

नया युग: नया दर्शन

अणुव्रत परामर्शक

मुनिश्री नगराजजी डी.लिट्.

प्रकाशक
पन्नालाल बांठिया
मंत्री
रा० प्रा० अणुव्रत समिति
जौहरी बाजार, जयपुर



सम्पादक
मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'



श्रीमान् वेगराज भंवरलाल चोरड़िया
बीदासर के आर्थिक सौजन्य से



संकलक
मुहरसिंह जैन



प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६९
द्वितीय संस्करण
अक्टूबर, १९७०



मूल्य : ३-५० रुपया



मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
२७, शिवाश्रम, क्वीन्स रोड,
दिल्ली-६

समर्पण

आचार्य श्री तुलसी को

जिनसे बहुत कुछ पाया है, बहुत कुछ पाना है।

प्राक्कथन

सामाजिक जीवन का प्रासाद न अति भोग के दल-दल पर खड़ा किया जा सकता है और न अति त्याग के उन्नत शिखर पर। उसके लिए समतल भूमि चाहिए। विचारों की उसी समतल भूमि पर "नया युग : नया दर्शन" का प्रणयन हुआ है।

विज्ञान प्रयोगशालाओं और वेधशालाओं से शिक्षा, समाज व घर में भी उतर आया है। जीवन के प्रत्येक पहलू पर वह अपनी व्यवस्थाएं देने लगा है। दर्शन भी लोकोत्तर पक्ष तक सीमित न रहकर समाज व जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आधारभूत समाधान देता रहे, इसी में उसकी ऊर्जा एवं प्राणवत्ता का परिचय है। यही उसके विस्तार की दिशा है। प्रस्तुत पुस्तक इसी अध्यवसाय का एक चरण-विन्यास है तथा वही उसके नामकरण का आधार है।

विचार के साथ प्रश्न पैदा होते हैं। प्रश्नों का समाधान ही उसका दर्शन बन जाता है। जैन, बौद्ध व अन्य सभी दर्शनों का यही इतिहास रहा है। अणुव्रत भी एक विचार है। उसके उद्गम बिन्दु आचार्य श्री तुलसी हैं। अणुव्रत का आलोक विस्तृत होकर जिन-जिन दिशाओं का स्पर्श करने लगा, वहीं से प्रश्न-प्रतिप्रश्न उठने लगे। आचार्य श्री तुलसी एवं उनके परिपार्श्व से समाधान प्रसूत होने लगे। उन्हीं समाधानों का आकलन नये युग का नया दर्शन बन गया है।

पुस्तक में भाषा और विषय को गूढ़ नहीं बनने दिया है। शैली भी विस्तार की अपनाई है। अणुव्रत सर्वसाधारण का विषय है। वह लोक-चेतना में नये समाज का निर्माण देखता है। सर्वसाधारण का बदल जाना

ही समाज का बदल जाना है। उसकी मान्यताओं एवं उसके विश्वासों का परिष्कार ही समाज का परिष्कार है। अस्तु, अणुव्रत पण्डितों का दर्शन नहीं, वह सर्वसाधारण का दर्शन है; अतः इसे सहज व सरल होना ही चाहिए।

आर्मस् स्ट्रॉंग आदि चन्द्र-यात्रियों ने यथा समय उड़ान भरी, वे यथासमय चन्द्र के धरातल पर उतरे और यथासमय पृथ्वी पर पुनः लौट आये। ५ लाख मील की यह यात्रा निर्धारित क्रम से इसलिए पूरी हो सकी कि उनकी गति का, उनके लक्ष्य का निर्धारण सही था। भारतीय जन-जीवन में गति और लक्ष्य का निर्धारण सही-सही नहीं हो पाया है। इसीलिए वह भटका-भटका-सा खोया-खोया-सा प्रतीत हो रहा है। उसके लक्ष्य और उनकी गति का सही-सही निर्धारण हो, यही अणुव्रत का आलोक है, यही 'नया युग : नया दर्शन' है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन किया है। मेरे साहित्य के विषय में यह उनकी चिरन्तन परम्परा ही रही है।

अणुव्रत सभागार, बम्बई
२०-७-६६

मुनि नगराज

भूमिका

साहित्य एवं संस्कृति का अभिन्न सम्बन्ध होता है। साहित्य के विकास में संस्कृति का विकास है तथा साहित्य के ह्रास में संस्कृति का ह्रास है। वर्तमान साहित्य विशृंखल धाराओं में बह रहा है। वह संस्कृति को कहां ले जायेगा, यह संदिग्ध है। प्राचीन सांस्कृतिक व नैतिक मूल्य छिन्न-विछिन्न होते जा रहे हैं। नवीन बन नहीं पा रहे हैं। ध्वंस प्रबल है, निर्माण क्षीण है। युग-परिवर्तन की इस संक्रान्ति वेला में अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्० की 'नया युग : नया दर्शन' पुस्तक रिक्तता को भरने वाली सिद्ध होगी। इसमें मुनिश्री ने वर्तमान जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों को सजगता से खोला है एवं भारतीय जीवन का एक सन्तुलित दर्शन प्रस्तुत किया है।

धर्म की अच्छाइयां व बुराइयां बहुत लोग बखानते हैं, पर, वर्तमान में धर्म का स्वरूप क्या हो, यहां आकर मौन हो जाते हैं। मुनिश्री ने धर्म की विज्ञान के साथ संगति बिठाकर उसकी एक बुद्धिगम्य रूप-रेखा गढ़ दी है।

वर्तमान शिक्षा दोषों से परिपूर्ण है, यह कहते रहने का ढर्रा बन गया है। भारतीय जन-जीवन के लिए निर्दोष शिक्षा प्रणाली क्या हो, यह पक्ष अछूता पड़ा है। मुनिश्री ने प्राचीन और अर्वाचीन शैक्षणिक मूल्यों के समन्वय से भारतीय शिक्षा प्रणाली का सुस्पष्ट रूप निश्चित किया है।

जनतंत्र व राजनीति की दुर्बलताओं पर प्रत्येक व्यक्ति रोष उंड़ेलता है, पर, मुनिश्री ने इस दिशा में देखने व सोचने की एक सन्तुलित दृष्टि दी है।

भारतीय जीवन इतिवाद और अतीतवाद की कुण्ठाओं से कैसे ग्रसित है, इस पर मुनिश्री ने बहुत ही मौलिक प्रकाश डाला है।

मुनिश्री का यह अभिप्राय कितना यथार्थ और हृदय-स्पर्शी है कि महावीर, बुद्ध आदि भारतीय मनीषियों ने समानता व अपरिग्रह का आदर्श दिया, पर तदनुकूल समाज-व्यवस्था नहीं दी। यही कारण है, वह आदर्श सामाजिक स्तर पर, क्रियान्वित नहीं हो पाया। मार्क्स ने व्यवस्था दी, पर, आदर्श नहीं दिया। यही कारण है कि साम्यवाद व्यवस्था का विषय बन पाया, पर, हृदय का विषय नहीं बन पाया। आदर्श व व्यवस्था के संगम से ही एक निर्दोष समाज-दर्शन प्रसूत हो सकता है।

अपरिग्रह के विचार को समाजवाद के साथ संगत कर मुनिश्री ने अध्यात्म-जगत् का एक नूतन आयाम खोला है।

भारतवर्ष में जीवन गत मूल्यों के निर्धारण का कार्य सदा से ऋषि-मुनियों एवं साधकों पर रहा है। रामायण, महाभारत व मनुस्मृति उनकी ही देन है। मुनिश्री नगराजजी ने वर्तमान जीवन के मूल्यों का निर्धारण कर 'नया युग : नया दर्शन' के नाम से सचमुच ही नये युग की नई मनुस्मृति प्रस्तुत की है।

महामनीषी आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन कर समग्र देश को अनुगृहीत किया है। राजस्थान इससे विशेष गौरवान्वित हुआ है। राजस्थान विधान सभा ने अणुव्रत आन्दोलन के समर्थन का एक प्रस्ताव पारित कर शासन तंत्र का ध्यान इस ओर खींचा है। शिक्षा के क्षेत्र में अणुव्रत आन्दोलन सदैव सक्रिय रहा है। शासन तंत्र के सहयोग से अब वह कार्य और अधिक व्यापक व व्यवस्थित बन सकेगा, ऐसी आशा है। मुनिश्री नगराजजी की यह 'नया युग : नया दर्शन' पुस्तक विद्यार्थी जगत् एवं शिक्षक-जगत् के लिए विशेष उपयोगी है।

शिवचरण माथुर

१० सितम्बर, ६९ शिक्षा मंत्री, राजस्थान

अनुक्रम

□ □

नया युग : नया दर्शन

: १ :

नया युग : नया दर्शन

परिवर्तन की अनिवार्यता

परिवर्तन विश्व का अनिवार्य क्रम है। अणु भी उसका अपवाद नहीं, ब्रह्माण्ड भी उसका अपवाद नहीं। वह व्यक्ति में भी परिणत होता है, समाज में भी। कोई भी संस्कृति, कोई भी सभ्यता परिवर्तन के क्रम से अछूती न अब तक रह सकी है, न आगे रह सकने वाली है। वह परिवर्तन चिन्तनपूर्वक हो, विवेकपूर्वक हो तो समाज को आगे बढ़ाने वाला होता है। विवशताजन्य या अज्ञानमूलक परिवर्तन समाज को दिग्मूढ़ बनाता है।

सह-जीवन का विकास

एक युग था, जब मनुष्य गुहा-गृही और पादपाश्रयी होकर ही जीता था। ग्राम, नगर, समाज जैसी व्यवस्थाएं नहीं बनी थीं। पारिवारिक जीवन भी नहीं था। विवाह-व्यवस्था भी नहीं थी। धीरे-धीरे सामाजिक व्यवस्थाओं का विकास हुआ। मनुष्य सह-जीवन जीने लगा। ग्राम, नगर, परिवार, समाज आदि बने। सह-जीवन जीने का दर्शन बना। कर्तव्य और मर्यादाएं बनीं। जैन धारणा के अनुसार आदि तीर्थंकर 'ऋषभ' ने मानवी सभ्यता का सूत्रपात किया। कला, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान मनुष्य को सिखलाये। सह-जीवन के नियमोपनियम व मर्यादाएं गढ़ीं। वैदिक धारणा के अनुसार आदि पुरुष मनु से मानवी सभ्यता का उदय हुआ। मनु ने सामाजिक नीति-नियम मनुस्मृति के रूप में दिये।

एक के पश्चात् एक युगपुरुष होते गये और सामाजिक मूल्यों में परि-

वर्तन, परिवर्धन व संशोधन करते गये। महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ बने। कथावस्तु के माध्यम से आध्यात्मिक, नैतिक व सामाजिक मूल्य जन-जन के संस्कारों में आये। भारतीय संस्कृति व भारतीय सभ्यता का रूप बना, जो आज तक किसी स्थिति में चल रहा है।

नये युग का सूत्रपात

वर्तमान युग परिवर्तनों के इतिहास में एक अनूठा अध्याय होकर जुड़ा है। जीवन के प्राचीन मूल्यों पर जैसे कि हिमपात हुआ है। सभ्यताएं बदली हैं, संस्कृतियां बदली हैं, आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्थाएं बदली हैं। नये मूल्य और नई मान्यताएं सारे क्षितिज को भर रही हैं। बहुत सारी जातियां, बहुत सारे देश अपना नया जीवन-दर्शन निर्धारित कर विकास और प्रगति की दौड़ में निकल पड़े हैं।

भारतवासियों के सामने भी यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। वे इस बदलते हुए युग में भी अपनी प्राचीन आस्थाओं पर अड़िग खड़े रहें, उन्हें तिलांजलि देकर वर्तमान के नवीन मूल्यों को आंख मूंदकर अपनालें अथवा प्राचीन और नवीन मूल्यों की छंटनी से एक नया जीवन-दर्शन गढ़ें ?

सहस्रों वर्ष पूर्व निर्धारित मूल्यों पर आज मनुष्य ज्यों-का-त्यों चलता रहे, यह असंभव है। उसका हृदय और मस्तिष्क ऐसा स्वीकार नहीं करेगा। बहुपत्नी-प्रथा को प्राचीन काल में मान्यता थी। एक-एक राजा के सहस्रों रानियां भी हुआ करती थीं। जितनी अधिक रानियां, उतना ही अधिक वह वैभवशील माना जाता था। आज का भारतीय इस प्रथा को छोड़ चुका है। बहुपत्नी-प्रथा को अवैधानिक मान चुका है। वह इस प्राचीन प्रथा पर आज ज्यों-का-त्यों चल सकता है। प्राचीन काल में बड़े-बड़े यज्ञ भी होते थे। सहस्रों पशुओं का बलिदान होता था। क्या आज मनुष्य ऐसा सोच भी सकता है ? तुलसीदासजी ने कहा है—शूद्र और स्त्री तर्जना के योग्य होते हैं। किसी देश-काल में यह मान्य मूल्य रहा होगा, तभी तुलसीदासजी जैसे मनीषी के मुंह से यह निकला, पर, आज तो शूद्र और स्त्री, सवर्ण और पुरुष जितना ही अधिकार पा गये हैं। उन दोनों के प्रति आज के प्रबुद्ध भारतीय की वैसी दृष्टि नहीं रही है। वैसा मानना एक

राष्ट्रीय अपराध बन गया है। महाभारत के अनुसार द्रोणाचार्य ने अपने प्रिय अर्जुन को अद्वितीय धनुर्धर बनाये रखने के लिए एकलव्य का अंगुष्ठ गुरु-दक्षिणा में ले लिया। महाभारतकार ने उसे हेय भी नहीं कहा। वर्तमान का बुद्धिमान गुरु ऐसा कभी नहीं चाहेगा। यदि ऐसा चाह लिया तो उसे समाज में टिकने को जगह नहीं रहेगी। अस्तु, प्राचीन मूल्यों में छंटनी करके परिष्कार लाना ही होगा। उन पर ज्यों-का-त्यों चलते रहने की बात सोची ही नहीं जा सकती। पिछले वर्षों तक देश में सती-प्रथा चलती थी। पति के साथ जल जाने वाली महिला समाज में गौरव पाती थी। न जल पाने वाली समाज में हीन दृष्टि से देखी जाती थी। आज का मूल्य सर्वथा बदल गया है। सती हो जाना एक अपराध बन गया है। समाज में अच्छी व बुरी मान्यताएं आज भी प्रचलित हैं। हो सकता है, कल जो प्रथाएं अच्छी लगती थीं, आज बुरी लगने लगी हों। कुछ भी क्यों न हो, आज प्रचलित सभी मूल्यों को बुद्धि की कसौटी पर कसना होगा व तर्क की तुला पर तोलना होगा। इस प्रकार प्राचीन से हेय तत्त्व निकल जायेगा, उपादेय तत्त्व रह जायेगा। वह हमारे नये दर्शन का एक पक्ष होगा।

नवीन की परख

नवीन को भी हम ज्यों-का-त्यों नहीं अपना सकते। पश्चिम में नवीन का उदय हुआ है। ज्ञान, विज्ञान, कला में अपूर्व प्रगति हुई है। सभ्यताओं और संस्कृतियों के भी नये द्वार खुले हैं। दिन-प्रतिदिन और खुलते जा रहे हैं। वहां की वर्तमान सभ्यता में भी एक घुटन है। 'बिटल', 'बिटनिक', 'हिप्पी' आदि उसी घुटन की निष्पत्तियां हैं। हिप्पी कहते हैं—हम चिर प्रचलित किसी समाज, संस्कृति व सभ्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। जैसे हमें आनन्द मिले, वैसे हम जीएं, यही हमारा ध्येय है। पश्चिम की पारिवारिक मान्यताएं भारत से बहुत भिन्न हैं। यहां **पितृ देवो भव, मातृ देवो भव** की संस्कृति है। पुत्र अपने माता-पिता को देवता मानकर चले। श्रवणकुमार की तरह वह माता-पिता की सेवा करे, यह यहां का आदर्श है। पश्चिम में माता-पिता और पुत्र का पारस्परिक कर्तव्य-भाव नगण्य है।

सदाचार और चरित्र की परिभाषाएं भी यहां से वहां की बहुत भिन्न

हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, वहां भी बहुत कुछ ऐसा है, जो अग्राह्य है। इस स्थिति में प्रगति के नाम पर नवीन का अन्धानुकरण भी नहीं किया जा सकता। साथ-साथ पश्चिम ने अपने बुद्धि बल से, परिश्रम से अनेक ऐसी उपलब्धियां भी अर्जित कर ली हैं, जिनकी उपेक्षा हमारा विवेक कर नहीं सकता; अतः नवीन को भी परखना होगा और उसकी भी शल्य-चिकित्सा करनी होगी। उपादेय रह जायेगा, हेय हट जायेगा। वह उपादेय हमारे नये दर्शन का दूसरा पक्ष होगा। भारतीय जीवन मकर-रेखा पर खड़ा है। उसे नये अयन में प्रवेश करना है और नये युग के लिए इस प्रकार विवेकमूलक पृष्ठभूमि पर नया दर्शन गढ़ना है।



: २ :

अतीतवाद—इतिवाद

आरोहण या अवरोहण ?

भारतवासियों की चिरपोषित आस्था रही है—अतीत उत्तम था, वर्तमान हीन है और भविष्य हीनतर व हीनतम ही आने वाला है। द्वापर, त्रेता, सतयुग क्रमशः हीन थे। कलियुग हीनतर बीत रहा है तथा उसे हीनतम होकर ही समाप्त होना है। जैन धारणा के अनुसार भी वर्तमान कालचक्र का उत्सर्पण (ऊर्ध्वगमन) बीत गया, अवसर्पण (अधोगमन) बीत रहा है। अतिसुख, सुख, सुखाधिक दुःख, दुःखाधिक सुख; अवसर्पण चक्रार्ध के ये चार घटक बीत गये। दुःखमूल यह पंचम घटक बीत रहा है। घोर दुःख का षष्ठ घटक आगे आने वाला है।

शास्त्रीय उक्त धारणाओं की वैज्ञानिक समीक्षा में न भी जायें और यह मान लें कि काल के अनन्त और असीम प्रवाह में आरोहण व अवरोहण का क्रम कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, तो भी हमें मानना होगा, संख्यातीत वर्षों का यह अवरोहण नदी के प्रवाह की तरह सर्वथा ढालू नहीं है। यह अवरोहण भी काल के समुद्र में आने वाला भाटा है। इसमें प्रतिक्षण एक के बाद एक आरोहण की तरंगें भी उठती ही रहती हैं। इस काल-समुद्र की एक-एक तरंग के उत्थान और पतन में अनगिन सीढ़ियां बीत सकती हैं।

अवरोहण की इस वस्तुस्थिति को न समझकर भारतीय लोगों ने उसे स्थूल रूप से पकड़ लिया—अतीत उत्तम था, वर्तमान हीन है तथा भविष्य

हीनतम होगा। काल का अवरोहण सपाट ढालू हो तो महाभारत के बाद शान्ति होनी ही नहीं चाहिए थी और रात के बाद दिन होना ही नहीं चाहिए था। हिन्दू धर्म के अनुसार एक के बाद दूसरे अवतार होने ही नहीं चाहिए थे तथा जैन धर्म के अनुसार एक के बाद दूसरे तीर्थंकर होने ही नहीं चाहिये थे। पर, काल का अवरोहण सपाट ढालू नहीं है; इसलिए श्रेष्ठ के बाद अश्रेष्ठ तथा अश्रेष्ठ के बाद पुनः श्रेष्ठ हम देखते हैं।

पहले जैसा कहाँ ?

काल का अवरोहण भारतीय मानस पर रूढ़ रूप से हावी हो गया है। वे अतीत की अश्रेष्ठता और वर्तमान की श्रेष्ठता देखना मानो भूल ही गये हैं। कहीं भी पांच आदमियों की चर्चा-वार्ता पर ध्यान दिया जाए, सुनने को मिलेगा—'वह जमाना गया। कहां है, अब पहले जैसी कृषि; कहां है, अब पहले जैसा वाणिज्य; कहां है, अब पहले जैसी विद्यायें; कहां है, अब पहले जैसा वास्तु-विज्ञान और कहां है, अब पहले जैसे युद्धास्त्र आदि-आदि।' वस्तु-स्थिति यह है कि उक्त सारे विषयों में मनुष्य पहले की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक आगे बढ़ चुका है। उसके फलित भी आंखों के सामने हैं, पर, अतीत-वाद की रूढ़ आस्था के कारण भारतीय मानस उसे देख व मान नहीं पाता।

कृषि

बैलों की जोड़ी और हल से मनुष्य खेती करता था। मात्र वर्षा पर उसका भविष्य निर्भर था। आज उसके हाथों में ट्रैक्टर है। उसके दाएं-बाएं नहरें हैं। उसके दिमाग में उपज बढ़ाने के नए-नए तौर-तरीके व फार्मूले हैं। कृत्रिम वर्षा के दिन उसे सामने आते दिखाई दे रहे हैं। प्रयोग, अनुसन्धान और प्रशिक्षण के बड़े-बड़े संस्थान उसके साथ हैं। अब कहिए, कैसी थी पुरानी कृषि और कैसी है, वर्तमान की नई कृषि।

व्यवसाय

प्राचीन काल के समुन्नत व्यवसाय को लें। गधे, खच्चर, ऊंट, बैलगाड़ी भारवाही साधन थे। छोटी-बड़ी नावें पाल व हवा के सहारे नदियों को

व समुद्र के कुछ भाग को पार करती थीं। वस्त्र के उत्पादन का आधार चरखा और हाथ का ताना-बाना था। अन्य उत्पादन-साधन भी उसी अनुपात में होंगे। आज बैलगाड़ी का स्थान रेलगाड़ी व अन्य भीमकाय यानों ने ले लिया है। जल, थल और नभ में उनकी समान गति है। चरखे का स्थान मिलों ने ले लिया है। अन्य उत्पादन-साधन भी उसी अनुपात में बढ़ गये हैं। बैंक आदि की व्यवस्थाएं व्यवसाय को कितना सुगम व व्यापक बना रही हैं। यह हुआ एक स्थूल लेखा-जोखा पहले के व वर्तमान के व्यवसाय का।

विद्याएं

प्राचीन काल की बड़ी विद्या उड़न-खटोलों एवं विमानों की मानी जाती है, पर, वह कितने लोगों के लिए सुलभ थी? इने-गिने विद्याधरों के लिए। आज हर मनुष्य विद्याधर माना जा सकता है। सबके लिए वायुयान-सेवा सुलभ है। नालन्दा व तक्षशिला के विश्वविद्यालयों की बात आती है। पर, वे समग्र भारत में कितने थे? दो ही थे या अधिक? आज देश में ७५ से भी अधिक विश्वविद्यालय चल रहे हैं। उन दो विश्व-विद्यालयों से अधिक विषय उनमें पढ़ाए जाते हैं। प्रशिक्षण एवं अनुसन्धान की विशेष प्रणालियां विकसित हुई हैं। इस स्थिति में भी क्या यही मानते रहें, पहले बहुत ज्ञान-विज्ञान था, अब सब चौपट हो गया है।

वास्तुकला

वास्तुकला की दृष्टि से देखें तो प्राचीन काल में अधिक-से-अधिक 'सप्त भौम' प्रासादों का वर्णन आता है। 'सप्त भौम' प्रासाद भी बड़ी राज-धानियों में विरल रूप से होते होंगे। आज बम्बई, कलकत्ता जैसे नगरों में 'सत मंजिली' बिल्डिगों की क्या गणना है? वहां वे सर्वोच्च नहीं, अल्पोच्च बन गई हैं। अब वहां नित नये 'विंशति भौम', 'त्रिंशत् भौम' प्रासाद खड़े हो रहे हैं। विश्व के पश्चिमी अंचल की ओर हम झांकें तो 'सप्त भौम' के बदले 'शत भौम' और उससे भी बड़े प्रासाद दिखलाई पड़ते हैं।

शस्त्रास्त्र

प्राचीन युग के शस्त्रास्त्रों में मुख्यतः वाण, गदा, चक्र, हल, मूसल आदि नाम आते हैं। ये भी वासुदेव, बलदेव, चक्रवर्तियों के शस्त्र थे। रामायण और महाभारत में अग्नि-वाण आदि दिव्य अस्त्रों का वर्णन आता है। पर, आज के आणविक अस्त्रों ने क्या उन दिव्य और अदिव्य सभी अस्त्रों को पीछे नहीं छोड़ दिया है ?

प्राचीनता का व्यामोह

अतीतवाद की अवास्तविक छाया भारतीयों के मन पर इतनी हावी हो गई है कि वे सम्यग् और असम्यग् को सही आंखों से देख भी नहीं पाते। उनका मानदण्ड वन गया है—जो प्राचीन है, वह सब अच्छा है। जो नवीन है, वह बुरा है ही। भारतवर्ष में ऐसे बहुत सारे गांव हैं, जहां लोगों ने अपने यहां रेल नहीं होने दी। उन्हें लगा, रेल का आवागमन हो गया तो हमारा गांव चोर व डाकुओं का अड्डा वन जायेगा। पशु, मनुष्य रेल से कटते रहेंगे। आज वे ही लोग किसी तरह से गांव में रेल आ जाये, इसलिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं। यह इसी बात का उदाहरण है कि भारतीय आंखें नवीन वस्तुओं के केवल दोष ही देखती हैं और प्राचीन वस्तुओं के केवल गुण ही। यह एक प्रकार का मिथ्यात्व है, जो व्यक्ति को यथार्थ तक नहीं पहुंचने देता है।

इति का युग

जिसे हम प्राचीन काल कहते हैं, वह अवश्य विकासोन्मुख था। उस समय भारतीय जीवन हर दिशा में प्रगति कर रहा था। धर्म, दर्शन, योग, आयुर्वेद, ज्योतिष, शिल्प, साहित्य आदि सभी क्रमिक रूप से आगे बढ़ रहे थे। मध्य युग में भारतीय मानस श्रद्धा के नाम पर इतना समर्पित हो गया कि पूर्वजों के ज्ञान पर इति लगाकर उसे पूजने लगा। उपलब्ध धर्म-शास्त्रों व दर्शन-शास्त्रों से आगे धर्म और दर्शन में सोचने का कुछ नहीं है। चरक व सुश्रुत से आगे आयुर्वेद में सोचने का कुछ नहीं। पाणिनी से आगे व्याकरण

में सोचने का कुछ नहीं है। पतंजलि से आगे योग में सोचने का कुछ नहीं है। उसी प्रकार शेष सभी विषयों में आगे सोचने के लिए कुछ भी अव-शिष्ट नहीं है।

अतीतवाद की पृष्ठभूमि पर इतिवाद का यह विष-वृक्ष खड़ा हुआ। ज्ञान-विज्ञान और सम्बद्ध पुरुषार्थ पर पूर्ण विराम लग गया। विकास स्थिर हो गया। उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान की विस्मृति का अयन चला। पढ़ने वाले भी कम और ज्ञान देने वाले भी कम। इतिवाद के विष-वृक्ष पर बौद्धिक संकीर्णता के कड़वे फल आये। जिसके पास जो कला थी, जिसके पास जो रासायनिक बोध था, वह उसके साथ ही समाप्त हो गया। मेरे समान कोई दूसरा न हो या मेरी रोजी न मारी जाये, यह बौद्धिक दैन्य इतना बढ़ा कि लोग अपने पुत्र या शिष्य को भी ज्ञान देना घातक समझने लगे। तथारूप अन्य परिस्थियां भी बनीं। परिणाम आया कि भारत जैसा प्राचीन राष्ट्र आज के नवोदित राष्ट्रों की अपेक्षा में भी सब ओर से पिछड़ रहा है। ज्ञान-विज्ञान की बात तो दूर, अपने भरण-पोषण के लिए व अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए भी वह परमुखापेक्षी बन रहा है।

कुण्ठित और अकुण्ठित दृष्टि

पश्चिम की दृष्टि अतीतवाद और इतिवाद में कुण्ठित नहीं हुई। पश्चिमी मानस चिरन्तन ज्ञान का आदर करता है, पर, उसे पूजता नहीं। वह उसमें अपने नये पृष्ठ और जोड़ता है। गेलेलिओ और कोपरनिकस के ज्ञान को न्यूटन ने परिमार्जित किया व आगे बढ़ाया। न्यूटन के ज्ञान में आईन्स्टीन ने परिवर्तन किया व उसे आगे बढ़ाया। उसी भूगोल व अन्त-रिक्ष-विज्ञान ने चांद पर पहुंच कर अब चार चांद और लगा दिये हैं। पश्चिम के अन्य विकासों का भी ऐसा ही इतिहास है। मनुष्य की दृष्टि वायुयान के कुतुबनुमा की सुई है। वह तनिक भी लक्ष्य से हट गई तो मनुष्य अनन्त में भटक गया। भारत भी वस्तुतः ऐसी ही भूल का शिकार है। वह अपने पूर्वजों के ज्ञान की महिमा गाता है, दूसरे लोग उस ज्ञान को आगे बढ़ाने में सफल हुए हैं। वह गायों की पूजा करता है, दूसरे लोग गायों को स्वस्थ, सुदृढ़ बनाने एवं उनका दूध बढ़ाने में सफल हुए हैं। कहा जाता है, कभी

भारत में दूध-दही की नदियां बहा करती थीं। आज भारत में दूध-दही दुर्लभ हो रहे हैं और नदियों की कहावत वहां चरितार्थ हो रही है। भारतीय मनुष्य की औसतन आयु पिछले वर्षों २६ थी। अब चेचक, महामारी, राजयक्ष्मा पर 'एलोपेथी' का कुछ नियंत्रण हुआ, तब वह बढ़कर ४६ हुई है। अमेरिका की औसतन आयु ७२ बताई जाती है। भारत के लोग सोचते हैं, कलियुग में आयु तो क्रमशः घटने ही वाली है। उसे बढ़ाने का प्रयत्न मूर्खता है। ऐसा सोचना शास्त्रों को सही ढंग से न समझने का परिणाम है। शास्त्रों ने कहीं उद्योग की उपेक्षा नहीं की है और न काल को एक धार गिरता हुआ ही बताया है। भारतीय की औसतन आय लगभग तीन सौ रुपये वार्षिक है। एक अमेरिकन की औसतन आय लगभग साठ हज़ार रुपये है। भारतीय इसे भाग्य की बात मानकर संतोष ले लेंगे। वे इस बात को भूल जायेंगे कि जीवन में पुरुषार्थ का भी कोई स्थान है तथा भाग्य व उद्योग एक-दूसरे के पूरक हैं, न कि एक दूसरे के निवर्तक।

आश्चर्य और खेद की बात तो यह है कि भारतीय लोग अब तक अपनी भूल को समझ भी नहीं पाये हैं। वे पश्चिम को गालियां देते हैं, कोसते हैं। पश्चिमी विकास को केवल भौतिक प्रगति कहकर मुंह पिचकाते हैं। साथ-साथ पश्चिम के आविष्कारों पर वे इतने आधारित भी होते जाते हैं कि उनका उपयोग किए बिना भी उनका काम नहीं चलता। फाउण्टेन पेन, घड़ी, सिलाई की मशीन, बिजली, तार, टेलीफोन, रेडियो, रेल, वायुयान आदि आविष्कारों में एक भी ऐसा नहीं, जो भारतीयों ने किया हो या एक भी ऐसा भारतीय हो जो इन साधनों के उपयोग से बचा हो? अद्भुत बात है, पश्चिमी व वैज्ञानिक साधनों से लाभ भी उठाया जाता है और पश्चिम तथा विज्ञान को हीन व तुच्छ भी माना जाता है।

आध्यात्मिक विकास में भारत आगे ?

भारतीयों का अन्तिम अस्त्र है—पश्चिमी लोग भौतिक विकास में आगे हैं, पर, आध्यात्मिक विकास में भारत अब भी सबसे आगे है। भारतवर्ष में महावीर, बुद्ध जैसे युगपुरुष होते रहे हैं; अनेक योगी, ऋषि, महर्षि होते रहे हैं; यह गौरव की बात है। किसी युग में वह दर्शन और अध्यात्म

के क्षेत्र में भी सर्वोपरि रहा होगा, पर, प्रश्न तो वर्तमान पर चिन्तन करने का है। अध्यात्म का प्रथम पक्ष दर्शन है और दूसरा पक्ष आचार है। बहुतों को पता नहीं है कि पश्चिम में दर्शन भी कितना द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है। जहां गति है, वहां विकास है, जहां अगति है, वहां कुण्ठा है। भारतवर्ष में दर्शन का विकास अतीतवाद और इतिवाद की कारा में बन्द है। पश्चिम में उसे आगे बढ़ने का अवकाश मिल रहा है। पश्चिमी लोग वैज्ञानिक पद्धति से प्रत्येक विषय का विकास करते हैं। दर्शन भी उनका उपेक्षित विषय नहीं है। शीर्षस्थ वैज्ञानिक भी अब विश्व पर दार्शनिक भाव-भाषा में सोचने-बोलने लगे हैं। इस स्थिति में यह हम आज न भी कहें कि भारत दर्शन के क्षेत्र में भी पिछड़ गया, पर, कल वह नहीं पिछड़ जायेगा, यह कहे बिना भी नहीं रहा जा सकता।

अध्यात्म का दूसरा पक्ष उपासना व आचार का है। यहां मंदिरों व धर्म-स्थानों में उपासना होती है। पश्चिम के चर्चों में भी वैसी ही भीड़-भाड़ होती है। प्रार्थना कितनी शान्ति व एकाग्रता से हो, यह शायद भारतीयों को वहां से सीखना पड़े। धर्म-प्रचार में ईसाई लोग कितने दक्ष व सक्रिय हैं, यह अज्ञात नहीं है। आज ईसाई धर्म विश्व का सबसे बड़ा धर्म बन गया है। भारतीय लोग धर्म का ढिंढोरा पीटते हैं, पर, अपने धर्मों का बढ़ावा तो दूर, संरक्षण भी नहीं कर पाते। भारत में भी दिन-दहाड़े कितने भारतीय ईसाई बन गये और बन रहे हैं।

आचार-पक्ष को लें। धर्म के नाम पर या मानवता के नाम पर पश्चिम का नैतिक पक्ष भारतीयों की अपेक्षा अत्यधिक ऊपर उठ गया है। भारत में झूठा तोल-माप, मिलावट, चोर-बाजारी, रिश्वत आदि असाध्य रोग हो गये हैं। पश्चिम के लोग अपने जीवन से इन बातों को बहुत कुछ मिटा ही चुके हैं। अन्य बुराइयां जो शेष हैं, उन्हें मिटाने में वे प्रगति-पथ पर हैं। इस स्थिति में पता नहीं, भारतीय लोग किस आधार पर सोचते हैं, आध्यात्मिक विकास में भारतीय अब भी सबसे आगे हैं।

पश्चिम में केवल भौतिक विकास ?

भारतीयों के मन में यह एक भ्रान्त धारणा है कि पश्चिम तो केवल

भौतिक प्रगति ही कर रहा है। बड़े-बड़े शो रूमों में लाखों का माल पड़ा है। पृथक्-पृथक् वस्तुओं के मूल्य लिखे पड़े हैं। कोई रखवाला नहीं, कोई भाव बताने वाला नहीं। ग्राहक मनचाही वस्तुएं बटोरता है, कोने में बैठे विक्रेता के पास आकर सही-सही बिल बनवा कर सही-सही पेमेण्ट करता है। क्या यह भी भौतिक प्रगति है? ऐसा ही है तो नैतिक प्रगति फिर क्या होगी?

पश्चिम को सोचने की व कार्य करने की एक वैज्ञानिक पद्धति मिली है। विज्ञान स्वयं केवल जड़ का ही उपासक नहीं रहा है। नैतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान, ये सब चेतन पक्ष भी उसके अंग बन गये हैं। मानव पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली अन्य अनेक धाराएं और उसमें जुड़ती जा रही हैं।

भारतीय लोग अपने अतीत के ज्ञान-विज्ञान और कौशल का कितना ही गर्व करें, पर, वस्तुस्थिति यह है कि इतिहास और पुरातत्त्व के अन्वेषण की पश्चिमी पद्धतियां यहां न आई होतीं तो विगत ढाई हजार वर्षों का अपना इतिहास भी वे खो देते। पश्चिमी विद्वानों ने ही मुख्यतः भारतीय इतिहास का सन्धान किया है। कैसे और क्यों के उत्तर में एक उदाहरण पर्याप्त होगा। सन् १३५६ में देहली के सुलतान फिरोजशाह तुगलक को प्राचीन लेखों वाले दो विशाल स्तम्भ मिले। वे बड़े कष्ट से देहली लाए गए। सुल्तान के मन में, उनमें क्या लिखा है, यह जानने की तीव्र उत्कण्ठा थी। विद्वानों व विशेषज्ञों को एकत्रित किया गया। कोई पढ़ नहीं सके। बादशाह अकबर ने उन्हें पढ़ाने का प्रयत्न किया, पर, सफलता नहीं मिली। भारत में अंग्रेज़ लोग आए। पश्चिमी प्रणालियों से पुरातत्व और इतिहास के अन्वेषण का कार्य आगे बढ़ा। गुप्त, खरोष्ठी, ब्राह्मी आदि लिपियां पढ़ी गईं। तब पता चला, यह सम्राट् अशोक के शिलालेख हैं, ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। शताब्दियों पूर्व भारतीय जिन लिपियों को भूल गए थे, आज उन लिपियों की असीम श्रम से वर्णमालायें तैयार कर ली गई हैं। उपलब्ध ताम्रपत्र, सिक्के, शिलालेख आदि पढ़ लिए गये हैं। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की वर्णमाला पकड़ने का प्रयत्न चल रहा है। अस्तु, ज्ञान-विज्ञान की पश्चिमी पद्धतियों को केवल भौतिक कहकर हम उनके साथ तो न्याय करते

ही नहीं, प्रत्युत उनसे दूर रहकर स्वयं को भी उसके लाभों से वंचित रखते हैं।

प्रस्तुत लेख का अभिप्रेत भारतवर्ष की गर्हा का नहीं है और न भौतिक प्रेरणा व पश्चिम की श्लाघा का ही। भारत में कोई विशेषता ही नहीं है तथा पश्चिम में कोई न्यूनता ही नहीं है, ऐसा भी अभिप्रेत नहीं है। अभिप्रेत तो मात्र दृष्टि-परिमार्जन का है। यथार्थ दृष्टि सम्यग् दर्शन है, अयथार्थ दृष्टि मिथ्यात्व है। अतीतवाद और इतिवाद के आवर्त से निकल कर ही भारत की नावा नैतिक, बौद्धिक व अन्य अपेक्षित विकास की मंजिलों को तय कर सकती है। अज्ञानमूलक दरिद्रता व अकर्मण्यता का नाम अध्यात्म व निवृत्ति नहीं है।



: ३ :

अध्यात्म का वैज्ञानिकीकरण : विज्ञान का आध्यात्मिकीकरण

एक युग था, जब मनुष्य धर्म पर न्यौछावर होकर चलता था। अपने जीवन की नकेल सर्वथा उसने धर्म के हाथों में ही छोड़ रखी थी। स्वर्ग, नरक, मोक्ष के उत्तर तो वह धर्म से लेता ही था, पर, साथ-साथ जन्म, विवाह, मृत्यु, वाणिज्य, राजनीति और भूगोल-खगोल के उत्तर भी वह धर्म से लेने लगा था। सारे विश्वास उसके धर्म पर केन्द्रित थे। जो उत्तर वहां से मिलता, उसे ही वह अन्तिम सत्य और अटल सत्य मानता था।

विज्ञान का जन्म हुआ। जन्म से ही वह धर्म को काटने लगा, धर्म-प्रवर्तकों की बातों को वह असत्य प्रमाणित करने लगा। स्वयं जो वह कहता उसे प्रयोग से, अनुसन्धान से, सत्य करके बताता। मनुष्य विज्ञान की ओर झुका। धर्म से उसकी आस्था डगमगा गई। विज्ञान ने उसके प्रत्यक्ष जीवन को पोषण देना प्रारम्भ किया। उसे सुविधापूर्ण साधन दिये। अलग शक्तियां दीं। भू, नभ और समुद्र पर मनुष्य विजयी हो गया। उद्दाम नदियों को बांधने में और दुर्गम पर्वतों को लांघने में वह सक्षम हो गया। उसने माना, धर्म के पीछे यों ही मैं अज्ञात में भटकता रहा था। अब मुझे यथार्थ मार्ग मिला है। बढ़ता चलूं, सुख और शान्ति की दिशा यही है।

मनुष्य आगे बढ़ा। पर, सुख और शान्ति के बदले भयंकर ज्वालामुखी के मुहाने पर पहुंच गया। उसके एक हाथ में अणुबम था और दूसरे हाथ में उद्जन बम। उसकी समझ में आया, सुख और शान्ति की दिशा कहीं छूट गई है और मैं व्यर्थ के प्रलोभनों में भटक गया हूं। जहां मैं पहुंचा

हूं; उससे दो डग आगे और बढ़ा तो यह मानवी संस्कृति सदा के लिए ही शेष हो जायेगी। वहां उसे फिर धर्म की याद आई। उसे लगा, जो कुछ विज्ञान ने दिया, वह शरीर के लिए था। दिल और दिमाग को उससे शान्ति नहीं मिली। उनका तनाव बढ़ता ही गया और बढ़ता ही जा रहा है। अब मनुष्य ने मान लिया है कि धर्म ही विज्ञान का पूरक तत्त्व हो सकता है।

संधि का क्षण

यही क्षण है, जब धर्म और विज्ञान में कोई संधि हो सकती है। विज्ञान अपनी रिक्तता को अनुभव करने लगा है। धर्म शताब्दियों तक उपेक्षित रहकर अब देश-काल के अनुरूप स्वयं का परिष्कार कर लेने के लिए तत्पर है। सब बातों का उत्तर देने का हठ न विज्ञान में रहा है और न धर्म में। दोनों ने अपना-अपना क्षेत्र व अपनी-अपनी शक्यता समझ ली है। पर, इन दोनों की अभिसंधि के लिए फिर भी कुछ शेष रह जाता है। वह है, धर्म का वैज्ञानिकीकरण और विज्ञान का आध्यात्मिकीकरण। हमें उस पर ही विस्तार से विचार करना है।

धर्म और विज्ञान; दोनों ही सत्य को मंजिल मानकर बढ़ने वाले राही हैं। दोनों की दृष्टियां और मानदण्ड भिन्न हैं; अतः दोनों के दो भिन्न मार्ग बन गये हैं। विभिन्न धर्म-प्रवर्तक हैं, विभिन्न उनकी मान्यताएं हैं। प्रश्न होता है, सत्य एक ही है, फिर ये विभिन्न मान्यताएं क्यों? प्रत्येक मान्यता के पक्षपाती अपनी ही मान्यता को सत्य तथा अन्य सबको असत्य मानकर चलते हैं। विज्ञान में पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय नहीं बने हैं। परस्पर विरोधी राष्ट्रों के वैज्ञानिक भी प्रकृति के रहस्यों को एक ही भाव-भाषा में व्यक्त करते हैं। इसका कारण है, वैज्ञानिकों की सत्य तक पहुंचने की अपनी एक दृष्टि। पूर्व वैज्ञानिकों ने जो कहा, वर्तमान पीढ़ी के वैज्ञानिकों को वह अयथार्थ लगा तो वे उसे तत्काल छोड़ देंगे और वर्तमान के यथार्थ पर मान्यता केन्द्रित हो जायेगी। विज्ञान इससे परिमार्जित होता जाता है और उसके सम्प्रदाय नहीं बनते। धर्म में वैसा नहीं है।

धर्म में कुण्ठित दृष्टि

जिस धर्म-प्रवर्तक को जो सत्य लगा और उसने जो कहा, शताब्दियों और सहस्राब्दियों के पश्चात् भी उसके अनुयायी उसमें परिवर्तन करने को तैयार नहीं होंगे; जब कि वह सब तरह से अन्यथा प्रतीत होने लग जाता है। वे आग्रहपूर्वक उसे ही सत्य कहते रहेंगे और दूसरों से झगड़ते रहेंगे। विज्ञान मनुष्य को मनुष्य मानकर चलता है, धर्म मनुष्य को भगवान्। मनुष्य भी महान् होकर अर्थात् राग-द्वेष आदि से मुक्त होकर भगवान् हो सकता है, पर, वह यह तो देखे, जिसे वह भगवान् मानकर चलता है, वह वस्तुतः भगवान् है या नहीं। आज जो शास्त्र हमें उसके नाम से मिल रहे हैं, वे अक्षरशः उसके हैं या नहीं ? धर्म बहुधा ऐसी बातों पर विचार भी करने के लिए तैयार नहीं होता। यही कारण है, धर्म कुण्ठित हुआ और आगे से आगे कुण्ठित होता जा रहा है। धर्म को अपनी रक्षा के लिए व सत्य की प्राप्ति के लिए कुण्ठित दृष्टिकोण छोड़ देना होगा। ज्ञान-विज्ञान और मान्यताओं पर लगी इति को मिटाकर, उन्हें सत्य की दिशा में मुक्त रूप से आगे बढ़ने का अवसर देना होगा। इससे धर्म के नाम पर बनने वाले सम्प्रदाय मिटने लगेंगे और धर्म भी विज्ञान की तरह सर्वसम्मत और एक बनने लगेगा।

धर्म भी वस्तुतः एक ही है। अहिंसा, सत्य, पुनर्जन्म, पुण्य, पाप, मोक्ष; इन आधारभूत तथ्यों में लगभग सभी धर्म एकरूप हैं। अन्तर पड़ता है— क्रियाकाण्ड का। वह अन्तर भी इतना मौलिक नहीं है, जितना लोगों ने उसे बना लिया है। कोई मूर्ति के माध्यम से अपने इष्ट की आराधना करे, कोई अपने मनोभावों से ही उसका साक्षात् करे। कोई तिलक किसी आकार में लगाये और कोई किसी आकार में, और कोई न भी लगाये। ये सब भेद बहुत नगण्य हैं। पर, सर्वसाधारण ने उनको बड़ा भी मान लिया और धर्म का मूल भी। यह दोहरी भूल हुई। अहिंसा, सत्य आदि जो धर्म के मुख्य अंग थे, वे मनुष्य से छूटते गये। हिंसा, असत्य, असहिष्णुता, निन्दा आदि धर्म के नाम पर भी बढ़ते गये। मुस्लिम धर्म में सिया-सुन्नी, ईसाई धर्म में प्रोटेस्टेंट-केथोलिक, हिन्दू धर्म में शैव-वैष्णव, बौद्धधर्म में हीनयान-महायान, जैन धर्म में दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि परस्पर के थोड़े-थोड़े

क्रियाकाण्ड-विपयक भेदों को लेकर वैमनस्य बढ़ने लगे। धर्म का अहिंसात्मक व सत्यप्रधान जो मौलिक स्वरूप था, वह गौण हो गया। वाह्य क्रियाकाण्ड ही धर्मों की मूल पहचान वन गये। अव नये युग में नया दृष्टिकोण अपनाना होगा। भेद को देखना गौण करें और अभेद को देखना सीखें। सम्प्रदायों और धर्मों के वीच भेद स्वल्प हैं, अभेद अधिक हैं। अभेद को देखते ही धर्म हमें एकाकार-सा प्रतीत होने लगेगा। भेद उपेक्षणीय और नगण्य हो जायेगा। एक धर्म दूसरे धर्म को काटेगा नहीं, प्रत्युत उसे वल देगा। सर्वसाधारण की समझ में यह आ जायेगा कि सत्य एक होता है तो मौलिक रूप में धर्म भी एक ही है। इससे धर्म का वल वढ़ेगा, उसकी उपयोगिता वढ़ेगी और समाज में विज्ञान से भी वढ़कर उसका महत्त्व वनता जायेगा।

उपलब्धियां व परिणाम

प्रकृति के दो पक्ष हैं—जड़ और चेतन। जड़ पक्ष के विकास का नाम पड़ा, विज्ञान। चेतन पक्ष के विकास का नाम पड़ा, धर्म। विज्ञान का फलित सुख-सुविधा के भौतिक साधनों के रूप में मनुष्य को मिला। धर्म का फलित—अहिंसा, सत्य, विश्व-वन्धुता व विश्व-मैत्री के आदर्शों के रूप में मनुष्य को मिला। संग्रह लालसा को वढ़ाता है। लालसा पूरी होकर ममता वनती है। ममता से अभिवृद्धि और सुरक्षा का प्रश्न पैदा होता है। इसी सुरक्षा और अभिवृद्धि के प्रश्न ने मनुष्य को आज अणुवम और उद्जन वम के निर्माण तक पहुंचा दिया है। धर्म मनुष्य को न्याय देता है, नीति देता है, अभय देता है और क्षमा देता है। विज्ञान के युग में धर्म की आवश्यकता व उपयोगिता और वढ़ गई है। विज्ञान-कृत संग्रह वढ़ता गया और मनुष्य में न्याय, नीति व उदारता नहीं वढ़ी तो मनुष्य मनुष्य को निगलने के लिए तैयार हो जायेगा। अणु-अस्त्र फूट पड़ेंगे। सभ्यता और संस्कृति नष्ट हो जायेगी। मनुष्य पुनः गुहा-युग और प्रस्तर-युग में चला जायेगा। विज्ञान मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध न होकर अभिशाप सिद्ध हो जायेगा। मनुष्य विज्ञान-प्रदत्त साधनों का उपयोग सुखपूर्वक तभी कर सकता है, जव विज्ञान के अनुपात में धर्म का उदय भी साथ-साथ होता

रहे; सह-अस्तित्व और आत्मौपम्य के विचार उसमें विकसित होते रहें। अव तक भी ऐसा हुआ होता तो अणु-शक्ति का विकास ध्वंस की ओर न जाकर निर्माण की ओर जाता।

आचरण की गिरावट

धर्म को करवट लेनी होगी। इतने दिन वह उपासना और क्रियाकाण्ड की करवट लेट रहा था। अव उसे आचरण की करवट लेटना होगा। अव तक के धार्मिक की मुख्य पहचान मंदिर, माला, दान, पूजा आदि विधियां थीं। अव उसकी पहचान उसका आचरण होगा। उसमें अहिंसा का कितना विकास हुआ है, सत्य का कितना विकास हुआ है; इसी कसौटी पर उसे उतरना होगा। धर्म मंदिरों में, मस्जिदों में व अन्य धर्म-स्थानों में ही न खोजा जाकर वह घरों में, दुकानों में, सचिवालयों में ही मुख्यतः खोजा जायेगा। धर्म जीवन के वाद क्या देगा, यह न पूछा जाकर, वह इस जीवन में क्या दे रहा है, यही पूछा जायेगा। सचमुच ही धर्म ने यदि यह करवट ले ली, तो वह जीवन की एक अनिवार्य अपेक्षा वन जायेगा। उसकी उपेक्षा समाज कभी कर ही नहीं सकता। धर्म को ही जीवित रखने के लिए नहीं, प्रत्युत स्वयं जीवित रहने के लिए समाज उसकी पूजा करेगा। धर्म को इस करवट में लाने का दायित्व मुख्यतः आता है—धर्मोपदेशकों पर, धर्म-गुरुओं पर। उनमें वह प्रेरणा, वह क्षमता होनी चाहिए कि वे धर्म को समाज में केवल श्रद्धा पर ही नहीं, अपितु बुद्धि पर भी स्थिर कर सकें।

आध्यात्मिकीकरण

धर्म का वैज्ञानिकीकरण जितना अपेक्षित है, उतना ही अपेक्षित यह है कि विज्ञान का आध्यात्मिकीकरण हो। विज्ञान चेतना के लोकोत्तर पक्ष में विश्वास करे या नहीं; वह उसके अपने अनुसन्धान पर निर्भर करता है, पर, चेतना का प्रत्यक्ष पक्ष इतना निर्विवाद है कि उससे वह मुंह भी मोड़ नहीं सकता। वालक जन्म लेता है। अच्छे संस्कारों में, अच्छे वातावरण में रहकर वह एक अच्छा मनुष्य वनता है। वुरे वातावरण में और वुरी परि-स्थितियों में रहकर मनुष्य वुरा वनता है। चोर, लुटेरे और डाकू भी सज्जन

बनते देखे जाते हैं तथा सज्जन भी असज्जन बनते देखे जाते हैं। चेतना के परिवर्तन और निर्माण का यह एक प्रत्यक्ष पक्ष है। उसे विज्ञान अपनाये और अपनी वैज्ञानिक पद्धतियों से मनुष्य को और समाज को कैसे अच्छा बनाया जा सकता है, इसका अनुसन्धान करे। इस अनुसन्धान में धर्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक बन जायेंगे।

धर्म प्रयुज्य सामग्री प्रस्तुत करेगा और विज्ञान की अपनी शालीन प्रयोग-विधि होगी। आचार-पक्ष के आधारभूत तथ्य अहिंसा, सत्य आदि वर्तमान या प्रत्यक्ष जगत् के निर्माण में भी उतने ही उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं, जितने वे लोकोत्तर पक्ष के निर्माण में सोचे जाते हैं। इससे बढ़कर मनुष्य के लिए महत्त्व की बात क्या होगी कि जिससे मनुष्य का प्रत्यक्ष जगत् सुख-मय हो, उससे ही परोक्ष जगत् भी सुखमय बन जाए। साधारणतया यह माना जाता है कि इस जीवन के सुखों को तिलांजलि देकर ही अगले जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है। आचार-पक्ष की पवित्रता इसका अप-वाद है। आचार-धर्म ही एक मात्र ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जो दोनों जीवनों की संधि-रेखा पर खड़ा रह सकता है और दोनों जीवन वृत्तों को पूर्ण प्रकाश से भर सकता है। साथ-साथ आचार-धर्म ही एक ऐसा तथ्य है, जिसमें प्रत्यक्ष जीवन में विश्वास रखने वाले तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष; इन दोनों जीवनों में विश्वास रखने वाले एकमत रह सकते हैं।

चेतना पक्ष की ओर

यह सन्तोष की बात है कि विज्ञान अब प्रकृति के जड़ पक्ष की तरह चेतना-पक्ष पर भी चरण-विन्यास कर रहा है। भले ही लोकोत्तर चेतना उसकी प्रयोगशालाओं और वेधशालाओं से अभी दूर हो, लौकिक चेतना की दिशा में समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, नैतिक विज्ञान आदि अनेक धाराएं उसकी खुल गई हैं। मानवीय सद्‌गुणों व दुर्गुणों के विकास और ह्रास की विधाएं सोची जाने लगी हैं। अपेक्षा है, अहिंसा-विज्ञान, सत्य-विज्ञान आदि की भी वैज्ञानिक क्षेत्र में स्वतन्त्र धाराएं खुल जायें और धर्म मनुष्य को विज्ञान के क्षेत्र से भी मिलने लगे। विज्ञान का यह आध्यात्मिकी-करण समाज के लिए तो उपयोगी होगा ही, पर, विज्ञान भी चेतना-पक्ष से जुड़कर स्वयं में परिपूर्ण होगा। □ □

: ४ :

जनतन्त्र : प्रयोग व परिष्कार

राजतंत्र का उद्गम

अनगिन शताब्दियों से भारत में और विश्व में, एकतन्त्र चल रहा था। वह एक सामाजिक जीवन की उपज थी। जहां दो हैं, वहां द्वन्द्व है, भय है, अरक्षा है, अनीति है, अन्याय है। सामाजिक जीवन की इन्हीं निष्पत्तियों ने राजा को जन्म दिया। न्याय, नीति और सुरक्षा का भार उस पर आया। अधिकार के बिना उस दायित्व का निर्वाह वह कैसे कर पाता? समाज ने उसको समग्र अधिकार दिया। देखते-देखते राजा समाज का सर्वोपरि व्यक्ति बन गया। उसकी वंश-परम्परा ही राज-परम्परा बन गई। उसने अपना दायित्व भी निभाया। प्रजा के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख माना। न्याय-नीति पर चलना और समाज को उस पर चलाते रहना अपना कर्तव्य समझा। यही कारण हो सकता है कि राज-परम्परा अनगिन शताब्दियों तक टिकी रह सकी। आज भी अच्छे जनतन्त्र की कल्पना में राम-राज्य को याद किया जाता है।

सत्ता और अधिकार मनुष्य को उन्माद देते हैं, निरंकुश बनाते हैं। राजा भी उसका अपवाद न रह सका। ऐश्वर्य और वैभव का उपयोग वासनापरक वृत्तियों के पोषण में होने लगा। न्याय और नीति का पक्ष एकाधिकार की दुर्दम यंत्रणाओं में निष्प्रभ व निस्तेज हो गया। एकाधिकार का दुरुपयोग यहां तक बढ़ा कि नल और युधिष्ठिर जैसे राजाओं ने भी अपने राज्य जूए पर लगा दिए। यह सतयुग की घटना है। कलियुग के राजाओं का तो कहना

ही क्या ?

लोक चेतना का उदय

प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया को जन्म देती है। राजा की निरंकुशता ने जनतन्त्र की भावना को जन्म दिया। मनुष्य सोचने लगा, राजा ही सब क्यों ? एक ही व्यक्ति की भूल का परिणाम देश व समाज को क्यों भोगना पड़ता है ? प्रशासन की सामूहिक व्यवस्थाओं का यत्र-तत्र उदय होने लगा। भारत में महावीर और बुद्ध के युग में वैशाली गणतन्त्र, शाक्य गणतन्त्र आदि अनेक ऐसे राज्य थे। कुछ समय तक वे बहुत सक्षम रहे, पर, एकतन्त्र के चालू प्रवाह में वे पुनः विलीन हो गये।

वर्तमान जनतन्त्र पश्चिम से उठकर सारे विश्व में फैला। अब एक-तन्त्र नाम मात्र ही कहीं शेष रहा है। युग का मूल्य बदल गया। समानता और स्वतन्त्रता जन्म सिद्ध अधिकार बन गई। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति पर भी चारों ओर से प्रहार होने लगे। एक लोकतान्त्रिक देश भी किसी दूसरे देश पर अपना प्रशासन रखे, यह भी अमान्य और असह्य हो गया। भारत में भी विचार-क्रान्ति हुई। अनेक पीढ़ियां स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष-रत रहीं, पर, गांधीजी के नेतृत्व में एक दिन स्वतन्त्रता एवं लोकतान्त्रिकता का उदय हो ही गया।

निष्पत्तियां

देश में जनतंत्र आये बाईस वर्ष हो गये हैं। अधिकांश लोगों का मत है, जनतंत्र का कोई शुभ परिणाम अब तक सामने नहीं आया। इस अभि-मत में बहुत कुछ यथार्थता है, पर, एकान्त रूप से ऐसा सोचना यथार्थ भी नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार और प्रगति का समान अवसर मिले, यह जनतंत्र की मूलभूत मान्यता है। कुल मिलाकर देखें तो यह मान्यता क्रियान्वित हुई है और होती जा रही है। गरीब-अमीर का भेद यदि कुछ भी नहीं मिटा, तो एक गरीब लालबहादुर शास्त्री भारत का प्रधान-मंत्री कैसे बन गया ? महिलाओं ने समानता का अधिकार कुछ भी नहीं पाया, तो एक महिला इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री कैसे बन गई ? हरिजनों

का पिछड़ापन मिटा ही नहीं, तो अनेक हरिजन वन्धु विधायक, संसद् सदस्य व मंत्री कैसे वन रहे हैं ? स्वाधीनता के पश्चात् भारतीयों की आय वढ़ रही है, आयु वढ़ रही है, शिक्षा वढ़ रही है। क्या यह जनतंत्र का असुन्दर परिणाम है ? पंचवर्षीय योजनाएं एक के वाद एक पूरी हो रही हैं। सब दिशाओं में निर्माण-कार्य आगे वढ़ रहा है। जीवनोपयोगी साधन सुलभ होते जा रहे हैं। पारमाणविक शक्ति के रचनात्मक उपयोग की दिशा में उल्लेखनीय विकास भारत में हो रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि लोग केवल त्रुटि पक्ष को ही देखते हैं। इससे उनको ऐसा लगता है कि न जाने देश कहां गड्ढे में खिसक रहा है। जव दृष्टि एकान्तिक हो, तव ऐसा लगना अस्वाभाविक भी नहीं है। दो रातों के वीच में एक दिन भी देखा जा सकता है और दो दिनों के वीच में एक रात भी देखी जा सकती है। एकान्तिक दृष्टि से विश्व में अन्धकार भी अधिक माना जा सकता है और प्रकाश भी। यथार्थ यह है कि विश्व में वे दोनों समान हैं। जितनी रातें, उतने दिन; जितना अंधेरा, उतना प्रकाश।

यथार्थ को पाने में भारतीय जनतंत्र के दोप-पक्ष को भी आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। यह भी संभव है, गुण-पक्ष से दोप-पक्ष का पलड़ा वास्तव में भारी हो। एक स्वस्थ जनतंत्र की स्थिति तक पहुंचने के लिए वहुत कुछ परिवर्तन, परिवर्धन व परिष्कार अपेक्षित होगा। भारतीय जनतंत्र को अव तक शिशु ही कहा जा सकता है। जनतंत्र अव तक परिपक्वता की स्थिति में नहीं, प्रयोग की स्थिति में चल रहा है। चिन्ता की वात यह है कि वह कुछ ऐसे असाध्य रोगों से ग्रसित होता दीख रहा है कि समय रहते उसका उचित उपचार न हुआ, तो संभवतः भारतीय जनतंत्र का शैशव-निधन ही हो जाये। निकट भूत में ही जहां-जहां जनतंत्र विशृंखल हुआ है, वहां-वहां सैनिक क्रान्तियां होती देखी गई हैं। राजतंत्र अनगिन शताब्दियों तक टिका। वर्तमान में जनतंत्र की दुर्वलताओं को देखते हुए मन में प्रश्न होता है, क्या यह भी अनगिन शताब्दियों तक विश्व में टिक पायेगा ?

लोकप्रियता और प्रशासनिक योग्यता

अनेक देशों में जनतंत्र पर्याप्त रूप से विकसित हुआ है। उसकी विधाएं

भी निर्णीत हुई हैं, पर, उसे रूढ़ बना देना हितकर नहीं होगा। उसमें परिष्कार होता रहे, नई-नई विधाएं जुड़ती रहें; यही उसके प्राणवान् व विकासोन्मुख बने रहने के लिए अपेक्षित है।

जनतंत्र की एक मौलिक दुर्बलता है। वह निर्वाचित व्यक्ति को प्रशासन पर आरूढ़ करता है। प्रशासन के गृह, अर्थ, प्रतिरक्षा, वाणिज्य, शिक्षा, कानून आदि नाना विभाग हैं। निर्वाचन का आधार लोकप्रियता है। वह मुख्यतः लोक-सेवा पर आधारित है। निर्वाचन की सफलता उम्मीदवार को केवल अच्छा लोक-सेवक प्रमाणित करती है, पर, वह अच्छा शासक भी है, इस बात की वह लेश भी निर्णायक नहीं है। लोकतंत्र की इस मूलभूत असंबद्धता का ही परिणाम है कि बहुत बार ऐसे विभागों पर ऐसे मंत्री आ जाते हैं, जिनको अपने विभागीय विषय का अधिकृत ज्ञान तो दूर, पर्याप्त ज्ञान भी नहीं होता। मन्त्रिमंडल में लिए जाने का निर्णय ही मुख्यतः, किसके साथ कितने विधायक या संसद् सदस्य हैं, इस आधार पर होता है। प्रशासनिक योग्यता या सम्बन्धित विषय के अधिकृत ज्ञान की उस निर्णय में प्राथमिकता नहीं होती। वर्तमान चुनाव-प्रणाली में उक्त दो अपेक्षाओं को जोड़ा जा सके तो जनतंत्र अधिक बुद्धिगम्य व सक्षम हो सकता है। जनतंत्र की मौलिक विधाओं को सुरक्षित रखते हुए यह संयोजन कैसे फलित हो, यह सहज नहीं लगता, पर, इस अपेक्षा की अनिवार्यता समझ ली गई तो मार्ग स्वयं सामने आयेगा। यह विषय केवल भारतीय जनतंत्र से ही सम्बन्धित नहीं है, अपितु समस्त जनतंत्र का ही मूलभूत प्रश्न है।

विघटन और उसका समाधान

जनतन्त्र का एक अन्य भी दुर्बल पक्ष है, जो उसके सुदृढ़ व सुस्थिर होने में बाधक रहता है। जनतंत्र में नाना राजनैतिक पक्ष स्वाभाविक रूप से रहते ही हैं। सबसे बड़ा पक्ष अपना मंत्रिमंडल बनाता है। अवशेष बड़ा पक्ष विरोधी दल कहलाता है। शेष सभी दल विरोध के अधिकारी हैं ही। एक ही बड़े पक्ष के अधिकार में समग्र तंत्र के आ जाने के कारण अन्य सभी दलों के लिए वह ईर्ष्या का विषय बन जाता है। विघटन की प्रवृत्ति उग्रता लिए ही रहती है। राष्ट्र-हित के निर्माणात्मक कार्य भी

इतर पक्ष के विरोध या उपेक्षा के विषय बने रहते हैं। सत्तारूढ़ दल कैसे असफल हो और कैसे वह प्रशासन से हटे, यही उपक्रम उचित-अनुचित रूप से चलता रहता है। एक को हटाकर दूसरा दल आरूढ़ होता है तो जो हटा है, वह उसे असफल करने में और हटाने में जुट जाता है। सत्तारूढ़ दल के अतिरिक्त अन्य संसद् सदस्यों के पास कोई प्रशासनिक रचनात्मक कार्य न रहने का ही यह परिणाम है। इस मल्ल-युद्ध की उखाड़-पछाड़ में प्रधान क्षति देश की होती है। सृजनात्मक कार्य ठप्प पड़े रहते हैं। राजनैतिक मल्ल जय-पराजय की तैयारी में अविराम लगे रहते हैं। मंत्रिमंडल टूटते रहते हैं, बनते रहते हैं। सृजनात्मक कार्य करे भी कौन, और क्या? एक दल की नीति राष्ट्र को किसी एक दिशा में ले जाने की है तथा दूसरे दल की किसी अन्य दिशा में। कुछ दिन देश पूर्व में आगे बढ़ता है, कुछ दिन वापिस पश्चिम में। परिणाम यह होता है, वह जहां-का-तहां ही रह जाता है। इस अस्थिरता में भी कभी-कभी जनतंत्र ही खतरे में चला जाता है। सैनिक क्रान्तियां सफल हो जाती हैं।

जनतंत्र को सुदृढ़ और कार्यक्षम रखने के लिए जनतंत्र के विघटनात्मक अवकाश को न्यून करना अत्यन्त अपेक्षित है। उसका एकमात्र उपचार है—सर्वदलीय प्रशासन। वहुमत की नीति देश की नीति मानी जाये और आनुपातिक रूप से सभी दलों के प्रमुख लोग मंत्रिमंडल में रहकर वहुमत की नीति को प्रामाणिकता से क्रियान्वित करें। हमारे वर्तमान संस्कारों में यह वात अव्यवहार्य जैसी लग सकती है, पर, इसके अतिरिक्त जनतंत्र को स्थायी व कार्यक्षम वनाये रखने का अन्य कोई मार्ग भी दृष्टिगत नहीं होता।

नया दल तो नया चुनाव

भारतीय जनतंत्र कुछ विशेष कीटाणुओं से भी ग्रसित है, जिनसे अन्य देशों के जनतंत्र उतने ग्रसित नहीं हैं। सिद्धान्त-हीनता और स्वार्थ-परता का परिचय जितना भारतीय राजनयिक दे रहा है, औसतन रूप से उतना अन्य किसी देश का राजनयिक नहीं। तृतीय महानिर्वाचन के पश्चात् जो दल-परिवर्तन का अद्भुत नाटक खेला गया, सम्भवतः वह जनतंत्र के

इतिहास की प्रथम घटना है। राजनयिकों की सिद्धान्त-शून्यता का नग्न परिचय उससे मिला।

जनतंत्र में दल-परिवर्तन कोई निषिद्ध बात नहीं है, बशर्ते कि उसका आधार सैद्धान्तिक हो। केवल अवसरवादिता के आधार पर आज इधर, कल उधर, परसों फिर इधर, यह घिनौना परिचय नहीं तो क्या है? एक विधायक एक लाख लोगों का तथा एक संसद् सदस्य दस लाख लोगों का एकमात्र राजनैतिक प्रतिनिधि होता है। उसमें गंभीरता होनी चाहिए, सिद्धान्तवादिता होनी चाहिए, उसके प्रत्येक जीवन-व्यवहार में शालीनता टपकनी चाहिए। प्राचीन काल में कहा जाता था—'यथा राजा तथा प्रजा'। अब राजा नहीं रहा, उसका काम नेतृजनों पर आया है। पुरानी किंवदन्ती भी बदल गई है। लोग कहने लगे हैं—'जैसे नेता वैसी जनता'। सर्वसाधारण बड़े का, अगुवे का अनुकरण करता है। इसीलिए कहा जाता है—**महाजनो येन गतः स पन्थाः** अर्थात् बड़ा व्यक्ति जिधर से गया, वही रास्ता है। नेता शब्द का अर्थ है—ले चलने वाला (अग्रणी)। अग्रणी के चरण-चिह्नों पर जन-समूह चलता है। ले चलने वाले का दायित्व बहुत बड़ा व गंभीर होता है। वह उचित मार्ग से न चले तो अनुयायिओं को ले डूबता है। वर्तमान स्थिति में नेतृजन अपने आपको संभालकर न चले तो प्रबुद्ध जनता उसके पीछे डूबेगी नहीं, वह उन्हें अगुआ मानना ही छोड़ देगी। उसका अर्थ होगा, उनके राजनैतिक जीवन की समाप्ति।

दल-परिवर्तन अब तक प्रश्न चिन्ह ही बन रहा है। कोई उसकी सुदृढ़ आचार-संहिता नहीं बनी है। प्रस्तुत समस्या का व्यवहार्य एवं न्यायोचित हल यही है, दल-परिवर्तन करने वाला साथ ही साथ विधायकता व संसदीय सदस्यता का भी परित्याग करे। जिस दल के आधार पर उसने चुनाव जीता है, उस दल की नीति पर जनता ने उसे मत दिये हैं। विधान सभा या संसद् में जाकर अपने व्यक्तिगत हितों के लिए अन्य किसी दल का प्रतिनिधि बनकर बैठे, यह सहस्रों और लाखों मतदाताओं के साथ उग्र विश्वासघात है। परिवर्तित दल के आधार पर वह दुबारा चुनाव जीत ले तो न किसी के साथ विश्वासघात हो और न किसी का अनधिकृत प्रतिनिधित्व भी।

जनतंत्र या अर्थतंत्र

भारतीय जनतंत्र को अर्थ भी अनेक प्रकार से विकृत कर रहा है। अर्थ का विषैला प्रभाव उसकी जड़ों तक पहुंचने लगा है। आशंका होती है, अगणित बलिदानों से मिला यह जनतंत्र केवल अर्थतंत्र ही बनकर न रह जाये। अर्थ के आदान-प्रदान पर मतों का आदान-प्रदान कानून से वर्जित है, फिर भी वह व्यापक स्तर पर चलता है। रुपये-पैसे लेकर मत देने वाले भी दोषी हैं। इस आदान-प्रदान का दुष्प्रभाव व्यापक है। लेने वालों का संस्कार बिगड़ा है। वे प्रति अवसर पर अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की चेष्टाएं करते रहेंगे। चुनाव एक बाजार बन जाएगा। जिसके पास अधिक पैसे होंगे, वह अधिक मत खरीद सकेगा। मतों के क्रय में अर्थपतियों से आगे कौन रह सकेगा? फलित होगा, अर्थपति या उनके उम्मीदवार ही अधिक संख्या में चुने जायेंगे। वे ही अपनी सरकार बनायेंगे। इस स्थिति में जनतन्त्र का मूलभूत उद्देश्य—अमीर और गरीब के बीच की खाई मिटाना स्वाहा हो जायेगा। समग्र जनतन्त्र एक अर्थतन्त्र ही दीखने लगेगा।

जो लोग द्रव्य-व्यय के आधार पर चुने जायेंगे, वे अधिकारों पर आकर द्रव्य-संग्रह की बात नहीं सोचेंगे, यह कहां तक संभव है। इस प्रकार जनतन्त्र की सारी शृंखला अर्थ-सम्बद्ध हो जाती है। उस स्थिति में सर्वसाधारण को इससे भिन्न क्या अनुभूति हो सकती है कि राजाओं का राज गया और अर्थपतियों का राज आया। अस्तु, जनता पैसे के आधार पर मत दे तथा उम्मीदवार पैसे के आधार पर मत ले; इस कुसंस्कार को मिटाए बिना स्वस्थ जनतंत्र का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता।

राजनैतिक सह-अस्तित्व

एक युग था, जब धार्मिक सम्प्रदायों के बीच बहुत कटुता का वातावरण रहता था। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की भिन्न मान्यता पर कटु प्रहार करता तथा उसके प्रति घृणा का भाव उभारता। इस क्रम से साम्प्रदायिक तनाव बहुत बढ़ गये। धर्म समाज के लिए एक अभिशाप बन गया।

वर्तमान में राजनैतिक दल भी सम्प्रदाय-से बनते जा रहे हैं। पारस्परिक वैमनस्य पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है। एक दूसरे की अच्छाई को देखने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। एक दूसरे को कितना बुरा बताया जा सकता है, यही एक मात्र लक्ष्य बन जाता है। इसका परिणाम सुदूर भविष्य में अच्छा नहीं होगा। धार्मिक झगड़ों के कारण जिस प्रकार धर्म ही समाज की अरुचि का कारण बन गया, इसी प्रकार राजनैतिक दलों के पारस्परिक झगड़ों के कारण किसी दिन जनतंत्र भी समाज की अरुचि का विषय बन सकता है।

विभिन्न धर्मों की तरह विभिन्न राजनैतिक दलों में भी भेद स्वल्प हैं, अभेद अधिक हैं। भेद का विरोध करें, यह उनका अधिकार है, पर, अभेद में एक दूसरे के सहयोगी न हो सकें, यह एक मानसिक दुर्बलता है। यह दुर्बलता समग्र जनतन्त्र को भी दुर्बल बनाये रखती है। वर्तमान जनतंत्र में यह भी एक परिष्कार का पहलू है। अभी तो भेद को प्रमुखता दे देकर राजनैतिक सम्प्रदाय बढ़ते जा रहे हैं। कांग्रेस ने समाजवादी उद्देश्य को मान्यता दी है, पर, आज उसी उद्देश्य को मानते हुए भी उसके दो भाग हो गये हैं। कांग्रेस से पृथक् फिर अनेक समाजवादी संगठन भारत में हैं। साम्यवाद की भी यही स्थिति है। अनेक सम्प्रदाय उसके बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। धार्मिक सम्प्रदायों के मतभेद अब क्षम्य और सह्य बन रहे हैं। सहिष्णुता और सह-अस्तिव का भाव सर्वसाधारण में बढ़ रहा है। भेद-दृष्टि क्रमशः गौण हो रही है और अभेद-दृष्टि प्रधान। राजनैतिक सम्प्रदायों के भेद दिन-प्रतिदिन प्रखर होते जा रहे हैं। वैमनस्य और मनोमालिन्य तीव्र होते जा रहे हैं। इस प्रवाह का दूरगामी परिणाम देश व समाज के लिए हितकर नहीं प्रतीत होता। यह सच है कि धार्मिक सम्प्रदायों से राजनैतिक मतवादों की स्थिति बहुत कुछ भिन्न है, पर, एक मुख्य बात समान भी है। एक धार्मिक सम्प्रदाय दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय को मिटाकर स्वयं स्थित व विस्तृत होना चाहता था, उसी तरह राजनैतिक मतवाद भी प्रतिपक्ष को मिटाकर स्वयं फैलना चाहता है। अस्तु, जनतंत्र की स्वस्थता के लिए राजनैतिक सह-अस्तित्व का विकास अनिवार्यतः अपेक्षित है। वह भेद की अपेक्षा अभेद को प्रमुखता देने से ही

फलित हो सकता है। विरोध सौम्य हो, प्रेम प्रगाढ़ हो, इसमें ही व्यक्ति, समाज व जनतंत्र का हित है।

नैतिक व बौद्धिक उच्चता

एकतंत्र की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के लिए एक व्यक्ति ही उत्तरदायी होता है। जनतंत्र की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के लिए प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी होता है। एक व्यक्ति का आचरण जनतंत्र की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के अनुपात में हानि या वृद्धि करता है। इस स्थिति में जन-जन की नैतिक व बौद्धिक उच्चता ही जनतन्त्र की सफलता का आधार बन जाती है। इसके अभाव में जितने विकृत निर्णयों की एकतन्त्र में कल्पना की जा सकती है, उतनी ही लोकतान्त्रिक निर्णयों में भी की जा सकती है। वैशाली गणतन्त्र का एक निर्णय इस तथ्य को भली भांति पुष्ट कर देता है। आम्रपाली के अनुपम सौन्दर्य पर अनेक क्षत्रिय कुमार मुग्ध थे। विवाह किसके साथ हो? वैशाली गणतन्त्र के संस्थागार में विचार चला। सर्वसम्मत निर्णय रहा, आम्रपाली को नगर-वधू बना दिया जाये। ऐसा ही क्रियान्वित हुआ। अस्तु, प्रगति, विकास और स्वस्थ निर्णयों के लिए जनतन्त्र में जनता का नैतिक व बौद्धिक स्तर समुन्नत होना ही चाहिए।

त्याग और उसका अंकन

जनतन्त्र स्पर्धाएं पैदा करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक स्थिति तक पहुंचने का अधिकारी है। वहां स्पर्धाएं सहज हैं। प्राप्य स्थान सीमित होते हैं, स्पर्धाएं असीम हो जाती हैं। जो पद पर पहुंच गये हैं, वे वहीं बने रहना चाहते हैं। जो वहां नहीं पहुंचे हैं, वे वहां पहुंचना चाहते हैं। तात्पर्य होता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने से आगे वाले को ढकेल कर स्वयं आगे आना चाहता है। इस प्रवृत्ति के दो ही अवरोध हो सकते हैं—साधन-शुद्धि का विश्वास और विसर्जन का मनोभाव। साधन-शुद्धि व्यक्ति को प्रगति से तो नहीं रोकती, पर, प्रगति के लिये किये जाने वाले अनैतिक उपक्रम उससे अवरुद्ध हो सकते हैं। विसर्जन का मनोभाव व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक पद-

त्याग का पाठ सिखाता है। पदारूढ़ व्यक्ति स्वतः पद-त्याग का आदर्श उपस्थित करने लगे, तो जनतन्त्र के लिय वह बहुत ही स्वस्थ परम्परा होगी। यह स्वस्थ परम्परा भी तब क्रियान्वित हो सकती है, जब समाज स्वेच्छा से पद-त्याग करनेवालों का यथोचित अंकन करे। अंकन से विसर्जन बढ़ेगा और विसर्जन से अंकन बढ़ेगा। इस अन्योन्याश्रित स्थिति में प्रतीक्षा अपेक्षित नहीं, चरण बढ़ने ही अपेक्षित है।

महात्मा गांधी स्वतन्त्रता-यज्ञ के होता थे। स्वतन्त्रता नहीं मिली थी, देश में जनतन्त्र नहीं आया था, तब भी वे आने वाले जनतन्त्र के गुणों व दोषों से परिपूर्ण अवगत थे। सम्भावित दोषों के विषय में वे कहते हैं— "स्वराज्य आज ही या काफी दिनों तक वर्तमान राज्य से कुछ बेहतर होने वाला नहीं है। हमें याद रखना चाहिए कि स्वराज्य होने पर. लोग एकदम सुखी होने वाले नहीं हैं। स्वतन्त्रता होने के साथ-साथ चुनाव-पद्धति में निहित सब दोष, अन्याय, अमीरों की सत्ता के जुल्म तथा शासन चलाने वालों का अनुभव, यह सभी हमारे ऊपर हावी होने वाले हैं। लोगों को ऐसा महसूस होने लगेगा कि यह झंझट हमने कहां से मोल ले ली ? लोग अफसोस के साथ बीते हुए समय की याद करेंगे कि उस समय अधिक न्याय था। अब से कहीं अधिक अच्छा शासन था, शान्ति थी और अधिकारियों में थोड़े बहुत प्रमाण में प्रामाणिकता भी थी। लाभ एक ही होगा कि एक प्रकार से अपमान और गुलामी का कलंक हमारे मस्तक पर से हट जाएगा।

"सारे देश में शिक्षा का प्रचार हो, तभी कुछ आशा है। उससे लोगों में बचपन से ही शुद्ध आचरण, ईश्वर का भय और प्रेम-भाव उपजेगा। स्वराज्य सुख देने वाला तभी होगा, जब हम इस कार्य में सफलता पाएंगे। नहीं तो यह स्वराज्य सत्ता के घोर अन्याय या जुल्म से भरा हुआ एक निवास होगा।"

इन उद्गारों से स्पष्ट व्यक्त होता है, महात्मा गांधी जनतन्त्र के आरम्भ में उद्गत होने वाले दोषों से परिचित थे, पर, उद्वेलित नहीं थे। आरम्भ में ऐसा होना उन्हें कुछ भी अनहोना नहीं लग रहा था। उस जनतन्त्र को स्वस्थता की ओर ले जाने की भी उनके मन में कोई मूलभूत

योजना रही होगी । वर्तमान में भारतीय जनता को भी जनतन्त्र की भ्रष्टता को देखकर उससे पलायन नहीं सोचना चाहिए । प्रयोग और परिष्कार चलाते रहना चाहिए, जिससे गांधीजी और समस्त भारतीय लोगों की तपस्या से उपलब्ध यह अमर फल वरदान सिद्ध हो सके ।



: ५ :

व्यक्ति, समाज और आर्थिक असदाचार

व्यक्ति अनैतिक क्यों ?

व्यक्ति पर धर्म का अंकुश है, संस्कृति और सभ्यता का बन्धन है, समाज का अनुशासन है, शासन का कठोर नियन्त्रण है, फिर भी वह अनैतिक क्यों बन जाता है, चिन्तन जगत का यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। इसका एक ही कोई गाणितिक उत्तर भी नहीं हो सकता। अनैतिकता के वृक्ष की जड़ें गहरी भी हैं और फैली हुई भी। वे भू-भाग की अनेक दिशाएं स्पर्श करती हैं।

धर्म के अभाव में ?

कहा जाता है, धर्म का प्रभाव घट गया है, इसलिए ऐसा होता है, पर, जिन देशों में धार्मिक मान्यता भारत जितनी नहीं है या सर्वथा ही नहीं है, उन देशों का राष्ट्रीय चरित्र भी भारत की अपेक्षा बहुत उन्नत देखा जाता है। वहां मिलावट, झूठा तोल-माप, रिश्वत जैसी बातें देखने को ही नहीं मिलतीं इस स्थिति में धार्मिक प्रभाव की न्यूनता ही इसका एक मात्र कारण है, यह यथार्थ नहीं ठहरता। भारत में धर्म का प्रभाव घट गया है, यह भी यथार्थ नहीं। धर्म का जो क्रम पहले चलता था, वह आज भी चलता है। मन्दिर हैं, मठ हैं, धर्माचार्य हैं। कोटि-कोटि लोग विश्वासपूर्वक उपासना करने वाले हैं। कुछ लोग धर्म को न भी मानें, पर, वे इतने नहीं हैं, जो राष्ट्रीय चरित्र के अनुपात को गिरा सकें। कहा जा सकता है, उपासना का धर्म

प्रखर है, पर, अहिंसा, सत्य आदि धर्म आचरण में कहां हैं ? आचरण में धर्म जितना होना चाहिए, उतना नहीं है। यह बहुत कुछ यथार्थ है। पर, सबसे महत्त्व का प्रश्न भी तो यही है कि वह आचरण में क्यों नहीं ?

उपदेश दिया, पर व्यवस्था नहीं

भारत के तपोवनों में ऋषियों, महर्षियों एवं तपस्वियों के उपदेशों की शिखा जलती रही है, जहां महावीर, बुद्ध और गांधी जैसे युग-पुरुष समय-समय पर होते रहे हैं और अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह पर बल देते रहे हैं। अगणित शताब्दियों से यह क्रम चल रहा है, फिर भी अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह सामाजिक रूप से चरितार्थ नहीं हो पा रहे हैं। इसका कारण है, यहां की जनता को उपदेश मिला, पर, तदनुरूप समाज-व्यवस्था नहीं मिली। शब्दान्तर से यह भी कहा जा सकता है, यहां के युग-पुरुषों ने उपदेश दिया, पर, तदनुरूप व्यवस्था नहीं दी। समानता की बात, यहां के युग-पुरुषों ने ही सर्वप्रथम कही होगी। उन्होंने मानव मात्र को ही नहीं, प्राणी मात्र को समान माना था। उन्होंने आवश्यकता से अधिक संग्रह को ही हेय नहीं माना था, अपितु संग्रह मात्र को ही हेय माना था। अपरिग्रह का उत्कृष्ट रूप उन्होंने स्वयं जीवन में उतार कर बताया था। पर, इससे सामाजिक स्तर पर अमीरी और गरीबी का भेद मिटा नहीं, समानता विकसित हुई नहीं। साम्यवाद के प्रणेता कार्ल मार्क्स ने समानता के लिए व्यवस्था का सूत्र दिया। समाजीकरण की बात कही, पर, उपदेश और हृदय-परिवर्तन की बात को काटा। अहिंसा और समानता की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष और द्वन्द्व को साधन रूप में अपनाया। साध्य पवित्र हो, साधन पवित्र-अपवित्र जैसा भी हो, यह मान्यता बनी। इस आधार पर कुछ देशों में शासन-तंत्र बदले, अर्थ-व्यवस्थाएं बदलीं। व्यक्तिगत संग्रह मिटा, तो एक सीमा तक निर्धन और धनिक के, श्रमिक और उद्योगपति के भेद भी मिटे। श्रमिक ही सारे तंत्र का अधिशास्ता बन गया।

भारत साधन-शुद्धि के विचार में विश्वास रखकर चलने वाला देश है। रक्त-क्रान्ति के द्वारा उसने स्वाधीनता पाने की बात भी नहीं सोची।

देश के नव निर्माण में वह साधन-शुद्धि के विचार को कैसे तिलांजलि दे सकता है। जनतंत्र में प्रत्येक परिवर्तन या सुधार संसदीय प्रणाली से आ सकता है। इस स्थिति में उसे समानता या सदाचार लाने के लिए हिंसक क्रान्ति की कोई अपेक्षा ही नहीं रह जाती।

वर्तमान सत्तारूढ़ पक्ष ने समाजवादी समाज-व्यवस्था को मान्यता दी है। क्रमशः उस ओर बढ़ने की घोषणा की है। उसका अभिप्राय है, शासन-तंत्र की तरह अर्थ-तंत्र भी व्यक्ति-व्यक्ति का न रहकर समग्र समाज का बन जाये।

असमानता व असदाचार की जड़ें

यह निर्विवाद है, असमानता तथा जन-जन में व्याप्त आर्थिक असदाचार की जड़ें मुख्य रूप से वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में गड़ी हुई हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को मनचाहा, दूसरे शब्दों में अपरिमेय धन-राशि का संग्रह करने की भी छूट है। अर्थ, अर्थ से उत्पन्न होता है और बढ़ता है। तात्पर्य हुआ, वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में धनवान् अधिक धनवान् होता जाता है और गरीब अधिक गरीब होता जाता है। असमानता की खाई पटने के बदले विस्तृत होती जाती है।

वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति का जीवन अर्थ-केन्द्रित रहता है। भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा आदि जीवन की अनिवार्य अपेक्षाएं भी शालीनता से व आत्म-सम्मान से नहीं निभा पाता, जब तक कि वह प्रचुर मात्रा में अर्थ-संग्रह नहीं कर पाता। लड़के और लड़कियों के विवाह पर होने वाला अनिवार्य व्यय फिर अलग। कुछेक पूंजीपतियों को छोड़, देश का समग्र मध्यम व निम्न वर्ग इस अनिवार्य व्यय की महामारी से आक्रान्त रहता है। एक ओर धर्म, संस्कृति व समाज के नैतिक आदर्श उसके सामने रहते हैं तथा एक ओर जीवन के ये ज्वलन्त प्रश्न। उसे झुक जाना पड़ता है, घुटने टिका देने पड़ते हैं, जीवन की इन अनिवार्यताओं के सामने। धार्मिक व नैतिक मूल्यों में विश्वास होते हुए भी उसे आर्थिक असदाचार अपना लेना पड़ता है।

सर्वोपरि सुख—प्रतिष्ठा

उक्त अनिवार्यताओं से जो वर्ग उत्पीड़ित नहीं है, वह प्रतिष्ठा और अधिकार के लिए आर्थिक असदाचार अपना लेता है। समाज में अब तक प्रतिष्ठा, पद और अधिकार भी बहुत कुछ अर्थाधारित ही हैं। अर्थवान् किसी अधिकार या पद पर न भी हो, उसका अर्थवान् होना ही स्वयं एक प्रतिष्ठा है। जो जितना अधिक धनवान् है, वह समाज में उतना ही अधिक प्रतिष्ठित है। एक लक्षाधिपति कोटिपति की प्रतिष्ठा पाने के लिए ही दिन-रात एक करता है, नैतिक अधिनियमों को ताक पर रखता है; जीवन की अनिवार्य आवश्यकता तो उसे उत्पीड़ित कर ही नहीं रही है। प्रतिष्ठा का सुख निरुपम सुख होता है। अन्य सभी सुखों को व्यक्ति उसके लिए तिलांजलि दे देता है। एक बड़ा उद्योगपति अपनी मानसिक और बौद्धिक शान्ति का भोग देता ही रहता है। शान्ति और सुख से सम्भवतः वह न भोजन कर पाता है, न नींद ही ले पाता है। उसकी एक कल्पना है, मैं उद्योगपतियों की अपनी बिरादरी में अगुआ बना रहूं। वही प्रतिष्ठा उसे एक मानसिक तृप्ति देती है और उसकी दृष्टि में उसका मूल्य सबसे अधिक है। उद्योगपतियों में शीर्षस्थ बना रहना या बन पाना अनेक आर्थिक असदाचारों को निमंत्रण देता है। शोषण व संग्रह का प्रतीक तो वह है ही।

पद व अधिकार भी अर्थ के नियंत्रण में

अब तक के समाज में पद व अधिकार की पृष्ठभूमि भी मुख्यतः अर्थ ही बनाता है। बिना अर्थ-संग्रह के या अर्थपतियों का आश्रय पाये, विधान सभा या संसद् के चुनाव लड़ पाना संभव नहीं है। चुनाव लड़े और जीते बिना मंत्री बन पाना अशक्य है। इस प्रकार शासकीय दायित्व पर बिना कोई आर्थिक आधार जुटाये पहुंच जाना सहज नहीं है। शिक्षा, साहित्य-सेवा आदि उद्देश्यों पर बनी सार्वजनिक संस्थाओं में आर्थिक दुर्भिक्ष बना ही रहता है। सरकार उन्हें कुछ सहयोग कर दे या कोई धनवान् उन पर तुष्टमान हो जाये, इसी पर उनका अस्तित्व है। सार्वजनिक क्षेत्र की श्लाघा

भी मुख्यतः अर्थपतियों के पल्ले पड़ती है। संस्थाओं के मुख्य द्वार पर उनके नाम लगे रहते हैं, प्रस्तर-मूर्तियां और चित्र लगे रहते हैं। समारोह का उद्घाटन करते वे देखे जाते है, अध्यक्षता करते वे देखे जाते हैं। संस्थाओं में अध्यक्ष, संरक्षक और मार्ग-दर्शक के स्थान उनके लिए सुरक्षित रहते हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के हर खेल में अर्थ ही सबसे अधिक बाजी मारता है। अर्थ की इतनी प्रभुता में हम कैसे आशा करें कि मनुष्य 'येन केन प्रकारेण' भी उसे अपनी तिजोरी में नहीं जमा करेगा, जब कि मनचाहा अर्थ जुटाने की व्यक्ति-व्यक्ति को छूट भी है। इसी अर्थ-व्यवस्था के अंचल में आर्थिक असमानता व आर्थिक असदाचार मिट जायेंगे, यह स्वप्न भी कैसे देखा जा सकता है। उक्त दो रोगों का तो उद्गम ही वर्तमान अर्थ-व्यवस्था है, यह भली-भांति माना जा सकता है। प्रत्यक्ष जीवन की इन परिस्थितियों में धार्मिक अनुशासन व नैतिक नियमन व्यक्ति को अर्थ-संग्रह से रोक नहीं सकते। कुछ लोग भले ही अर्थ की उपेक्षा कर धार्मिक व नैतिक अधिनियमों पर चल पायें, पर, सभी लोग व अधिक लोग ऐसा कर पायेंगे, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। महावीर, बुद्ध व ऋषि-मुनियों के उपदेश समाज को नहीं बदल सके, असमानता व आर्थिक असदाचार नहीं मिटा सके, इसका मूल हेतु भी प्रचलित अर्थ-व्यवस्था है। आदर्श और व्यवस्था का अतारतम्य जब तक है, तब तक भविष्य में भी आर्थिक असमानता और आर्थिक असदाचार का उन्मूलन फलित हो सकेगा, ऐसा सोचा नहीं जा सकता।

साधन ही साध्य बन गया

एक युग था, जब सामाजिक व्यवहार वस्तु-विनिमय पर चलता था। अर्थ की प्रभुता या पंचायत नहीं थी। एक जुलाहा कपड़ा बुनता, एक कृषक अन्न उपजाता। अन्न और कपड़े के विनिमय से दोनों की समस्या हल होती। सामाजिक व्यवहार ज्यों-ज्यों बढ़ा, विनिमय की सुविधा अपेक्षित हुई। मुद्रा के रूप में मनुष्य ने अर्थ को जन्म दिया। कपड़ा खरीदने वाले को अन्न की गठरी उठाकर नहीं ले जानी पड़ती तथा गाय खरीदने वाले को बकरियों की टोली साथ नहीं लेनी होती। मुद्राओं पर क्रय-विक्रय चलने

लगा। विनिमय का साधन विकसित हुआ। वह भी इतना कि उसका आविष्कर्ता मनुष्य उससे जकड़ गया। वह साधन ही उसका साध्य हो गया। उसका नियंत्रण उससे हट गया। स्वयं मनुष्य ही उसके द्वारा नियंत्रित हो गया। अब अपेक्षा है, मनुष्य की ऊर्जा जगे और अर्थ की सत्ता को वह चुनौती दे दे, स्वयं का प्रभाव बढ़ा ले और अर्थ के प्रभाव को न्यून कर दे। योगी ने मार्जार से भयभीत चूहे को मार्जार बना दिया। क्रमशः उसे कुत्ता, चीता और सिंह बना दिया। पर, सिंह जब योगी को ही खाने दौड़ा तो योगी ने कहा—'पुनर्मूपिको भव' अर्थात् पुनः चूहा हो जा। यही स्थिति मनुष्य को अर्थ के विषय में करनी होगी। अर्थ मनुष्य के वरदान से शक्तिशाली सिंह हो गया है और वह मनुष्यता पर ही झपट रहा है। मनुष्य का अभिशाप उसे पुनः चूहा बना सकता है।

सामाजिक स्वामित्व

प्रश्न उठता है, अर्थ की प्रभुसत्ता न्यून कैसे की जाये ! मनुष्य वस्तु-विनिमय के युग में अब पुनः लौट नहीं सकता, न ऐसा आवश्यक भी है। अर्थ के व्यक्तिगत स्वामित्व से नाना दोष उत्पन्न हुए हैं। वह व्यक्तिगत स्वामित्व समाजगत स्वामित्व में बदल जाये तो शोषित और उत्पीड़ित मनुष्य को बहुत कुछ राहत मिल जाये। एक सभ्य और व्यवस्थित परिवार सब कुछ सबका अर्थात् परिवार का, मान कर सुख से जीता है। उस संयुक्त परिवार में अपेक्षाकृत कोई अमीर नहीं होता, कोई गरीब नहीं होता। सभी लोग व्यवस्थानुसार श्रम करते हैं। पारिवारिक सम्पत्ति व व्यवसाय की वृद्धि करते हैं। उसी प्रकार समग्र देश भी एक परिवार बन जाये। सभी लोग अपनी-अपनी योग्यता व क्षमता के अनुरूप श्रम करें, उत्पादन सभी का हो, देश की सम्पत्ति सभी की हो। व्यक्तिगत जीवन की अनिवार्य अपेक्षाएं समाज पूरी करे। देश की समृद्धि के अनुरूप सभी को सुख-सुविधा मिले। व्यक्तिगत संग्रह निर्धारित क्रम के अतिरिक्त किसी का कुछ भी न हो, तो व्यक्तिगत संग्रह की अपेक्षा ही मिट जायेगी। व्यक्ति अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त होगा।

भविष्य की अनाश्वस्तता

वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति के भविष्य की आश्वस्तता नहीं है। यह भी एक कारण है कि व्यक्ति संग्रह के प्रति कृतसंकल्प होता है। उसे चिन्ता है, मैं रुग्ण हो गया, वृद्ध हो गया, तो मेरा जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? वास्तविकता भी यही है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था के अनुसार संगृहीत धन के अतिरिक्त उसका अन्य कोई त्राण नहीं है। भविष्य की अनाश्वस्तता के लिए संग्रह आवश्यक हुआ। संग्रह के साथ असमानता, असदाचार का आना स्वाभाविक था ही। अर्थ के समाजीकरण में व्यक्ति जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के लिए आश्वस्त हो जाता है।

संसदीय प्रणाली से

समाज को संग्रह-मुक्त व शोषण-मुक्त करने की दिशा में समाजीकरण का प्रयोग अब तक का सर्वोत्तम प्रकार माना जा सकता है। विकासोन्मुख अनेक राष्ट्रों में यह प्रयोग क्रियान्वित किया जा रहा है। भारत ने भी समाजवादी समाज-व्यवस्था को अपना लक्ष्य घोषित किया है। पर, अब तक वह लक्ष्य की ओर पर्याप्त गति से आगे नहीं बढ़ पा रहा है। हिंसात्मक आधारों से उसे स्थापित किया जाये, यह भारत का नीतिगत विषय नहीं है। संसदीय प्रणाली से वैसा हो पाना तब तक संभव नहीं है, जब तक वह जन-जन का मान्य विषय न हो जाये। संसद् में जनता के प्रतिनिधि बैठते हैं। जनता में जो भावना संस्कारित नहीं हुई है, वह जन-प्रतिनिधियों में बहुमतसे कैसे उपलब्ध होगी ?

सामुदायिक विसर्जन

भारतवर्ष अहिंसा के आधार पर स्वाधीन हुआ है। उसने विश्व के इतिहास में अपना यह अपूर्व अध्याय जोड़ा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जहाँ उसने अहिंसा का आधार लिया, अब नवीन समाज-निर्माण में उसे अपरिग्रह के आदर्श का आधार लेना चाहिए। भारतवर्ष एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है। यहां अध्यात्म-निष्ठ मनीषियों द्वारा नाना दिशाएं खोली

ही जाती रही हैं। शताब्दियों और सहस्राब्दियों से पोषित अपरिग्रह के विचार को अब मूर्तिमान् कर बताने का स्वर्णिम अवसर भारतवासियों के सामने है। व्यक्तिगत रूप से परिग्रह को ठुकरा देने का क्रम भारत में बहुत प्राचीन है। अनेक राजा, महाराजा, सम्राट् राज-सिंहासनों को ठुकरा कर अकिंचन परिव्राजक का मार्ग अपनाते रहे हैं। प्रस्तुत प्रयोग में ऐसे उत्कट त्याग की अपेक्षा नहीं है। इसमें तो केवल इतने ही त्याग की अपेक्षा है कि जो कुछ व्यक्तिगत है, उसके विषय में व्यक्ति मान ले न ममेदं, सर्वेषामिदम् अर्थात् 'यह मेरा नहीं है, सबका है'। व्यक्ति-व्यक्ति में यह विसर्जन का भाव आया कि समाजीकरण का विचार समाज में फलित हुआ। संसदीय विधि-विधान उसे समाजवादी समाज-व्यवस्था का रूप देंगे। उस समय समग्र देश एक परिवार जैसा होगा। आर्थिक विषमता और असदाचार जीर्ण-शीर्ण होकर समाप्त होने लगेंगे। तब भारत के, 'विश्व एक परिवार' की अपनी चिरकल्पित मंजिल, सामने आ जायेगी। 'देश एक परिवार' की उपलब्धि उस मंजिल की ओर बढ़ने में आदि चरण-विन्यास होगा।

अध्यात्म की दिशा

समाजीकरण का विचार व्यक्ति को अपरिग्रह की दिशा में ही आगे बढ़ाता है। परिग्रह दो प्रकार का होता है—व्यक्तिगत, समाजगत। वर्तमान स्थितियों में निजी सम्पत्ति, निजी आवास आदि व्यक्तिगत परिग्रह हैं। राजकीय चिकित्सालय, विद्यालय आदि सामाजिक परिग्रह हैं। वे जनता के धन से जनता के लिए बनाए गये हैं। व्यक्ति आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करता है। व्यक्ति का ममत्व जितना घर में है, उतना राजकीय चिकित्सालय या विद्यालय में नहीं है। अनासक्ति-भाव से वह उनका उपयोग करता है। व्यक्तिगत परिग्रह जब इच्छापूर्वक विसर्जित कर दिया जाता है, तब अपरिग्रह की दिशा में एक बहुत बड़ी मंजिल तय हो जाती है। अध्यात्म जगत् का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में क्रियान्वित हो जाता है। इस प्रकार समाजीकरण का प्रयोग सचमुच ही अध्यात्म का परिपोषक बन जाता है। अध्यात्म समाज-व्यवस्था के अनुकूल हो और समाज-व्यवस्था अध्यात्म के अनुकूल हो, यह आदर्श समाजीकरण

के प्रयोग में चरितार्थ हो जाता है।

सब ओर से समर्थन

समाजीकरण की धारणा अधिकांश विचार-क्षेत्रों से किसी-न-किसी रूप में समर्थित है। साम्यवाद एवं समाजवाद का तो वह अपना पक्ष है ही। सर्वोदय और समाजवाद भी लक्ष्य तक पहुंच कर एक होजाते हैं। समाज का उदय और सबका उदय, कोई दो अर्थ नहीं रखते। अणुव्रत आन्दोलन वैयक्तिक ममता के विसर्जन में अपरिग्रह अणुव्रत का विकास देखता है। ममता परिग्रह है। ममता का अल्पीकरण अपरिग्रह का विकास है। प्रशासन ने समाजवाद को अपना लक्ष्य बनाया ही है।

परस्पर पूरक बनें

सब ओर की समान विचार-शक्तियां एक-दूसरे की पूरक बनें, तो शीघ्र ही समाज में इच्छित आर्थिक क्रान्ति आ सकती है। विशृंखल विचार-शक्तियां समाज को लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंचा सकतीं। भारतवर्ष में विशृंखलता का प्राबल्य रहता है। समान लक्ष्य वाले संगठन भी एक दूसरे से कदम मिलाकर आगे नहीं बढ़ते। स्वयं समाजवादी संगठन भी अनेक टुकड़ियों में हैं और सभी टुकड़ियां अपना-अपना राग अलापती हैं। भारतवर्ष में असीम काल से व्यक्तिवादी व्यवस्था चल रही है। उसके अनुरूप ही सबके बद्धमूल संस्कार हैं। स्वर्ण पर नियंत्रण आया कि सारा देश बौखला उठा। समाजीकरण की कोई भी बात अभी समाज को अच्छी नहीं लग रही है। व्यक्ति सोचता है, सब कुछ छीना जा रहा है। उसके मन में समाजीकरण से होने वाले लाभ की कोई कल्पना नहीं है। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रथम पृष्ठभूमि संस्कार-परिवर्तन की होगी। संस्कार-परिवर्तन का कार्य अभी देश में यथेष्ट रूप से नहीं हो पा रहा है। आर्थिक क्रान्ति के समर्थक एवं सूत्रधार इस ओर व्यवस्थित रूप से संलग्न हों, यह नितान्त अपेक्षित है।

समाजगत व्यवस्था में व्यक्ति आर्थिक असदाचार तो नहीं करेगा, पर, कृषि, वाणिज्य आदि में जी तोड़कर परिश्रम भी नहीं करेगा, यह

एक प्रश्न है। खेत अपना हो, उद्योग अपना हो, व्यवसाय अपना हो, तो व्यक्ति जी तोड़कर परिश्रम करता है और उसे विकासोन्मुख बनाता है। समाजगत लाभालाभ के लिए वह इतना चिन्तित ही क्यों होगा, इतना परिश्रम ही क्यों उठायेगा ?

सामुदायिक स्वामित्व में अकर्मण्यता

व्यक्ति के वर्तमान संस्कारों में ऐसा लगता है, पर, संस्कार ज्यों-ज्यों बदलेंगे, व्यक्ति का अपनत्व सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता के साथ जुड़ता जायेगा। वह आज जो स्वयं के लिए करता है, तब वह समाज के लिए भी करने लगेगा। व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं। एक वे, जो निष्काम और अनासक्त रहते हुए केवल कर्तव्य-भाव से कर्तव्य करते जाते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रबुद्ध विवेक वाले होते हैं; पर, उनका अनुपात समाज में बहुत स्वल्प होता है। दूसरे व्यक्ति वे हैं, जो स्वार्थ-वश ही कार्य-निष्ठ रहते हैं। उनके लिए अपना समाज, अपना देश, स्वार्थ की ये नई सीमाएं होंगी। तीसरे व्यक्ति जो मुख्यतः स्पर्धावश ही कार्यशील रहते हैं। उनका क्षेत्र समाजीकरण में मिट नहीं जायेगा। कार्य-क्षमता और योग्यता का स्थान तो उनमें भी आगे रहेगा। अपने दांये-बांये बैठने वाले से जो जितना अधिक कार्य-क्षमता एवं योग्यता का परिचय देगा उसका दायित्व उतना ही बड़ा होगा। हालांकि शेष दो हेतु मनुष्य की अपूर्णता के परिचायक हैं, पर, जब तक मनुष्य में वह अपूर्णता विद्यमान है, उस स्तर से ही उसके विषय में सोचना चाहिए। इससे योजना और उसका परिणाम असंबद्ध नहीं होगा। स्वार्थ व स्पर्धा कोई बड़े गुण नहीं माने गये हैं, पर, स्वार्थ कुत्सित न हो, स्पर्धा अनौचित्य पर आधारित न हो, तो ये दोनों बड़े दोष भी नहीं रह जाते हैं। अस्तु, समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति पर्याप्त योग-दान नहीं करेगा, यह कोई मुख्य बात नहीं रह जाती। वर्तमान संस्कारों को बदले बिना तो समाजवादी व्यवस्था के आने का भी कोई प्रश्न नहीं है और संस्कार-परिवर्तन के पश्चात् समाजवादी व्यवस्था के असफल होने का भी कोई प्रश्न नहीं है। एक सभ्य परिवार की संयुक्त व्यवस्था में परिवार के सभी सदस्य भली-भाँति योग-दान कर सकते हैं, तो एक संस्कारित समाज में सभी व्यक्ति भली-भाँति योगदान क्यों नहीं कर सकेंगे ?

: ६ :

प्राचीन व अर्वाचीन शिक्षा-प्रणाली

संस्कृति व इतिहास से कोरे

एक दिन एक संसद्-सदस्य कार्यवश किसी एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में गये। आचार्य से उन्हें मिलना था। विद्यालय लगने में थोड़ा-सा विलम्ब था। आचार्य (प्रिंसीपल) आये नहीं थे। बहुत सारे विद्यार्थी विद्यालय के प्रांगण में खड़े थे। सभी भारतीय थे। विद्यालय का वातावरण अभारतीय जैसा था। ऐसा होना ही था; क्योंकि वह मिशनरी स्कूल था। संसद्-सदस्य ने विद्यार्थियों को अपनी ओर आमंत्रित किया। विद्यार्थी आये और शिष्टता से खड़े रहे। संसद्-सदस्य ने पूछा—"क्या आप बता सकते हैं, जनक का धनुष किसने तोड़ा?" प्रश्न रामायण से सम्बन्धित था। विद्यार्थी प्रश्न का हार्द नहीं समझ पाये। अपने आपके बचाव में उन्होंने कहा—"जनक का धनुष हमने तो नहीं तोड़ा।" उत्तर सुनकर संसद्-सदस्य को खिन्नता हुई। उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थी और वे रामायण की प्रमुख घटना से भी परिचित नहीं। इतने में आचार्य आ गये। संसद्-सदस्य ने कहा—"आप क्या पढ़ाते हैं? विद्यार्थी यह भी नहीं बता पाये कि जनक का धनुष किसने तोड़ा?" आचार्य भी प्रश्न का तात्पर्य नहीं समझ पाये। उन्होंने कहा—"मैं तो इस विषय में इतना ही कह सकता हूं, मेरे विद्यालय के लड़के झूठ नहीं बोलते। जनक का धनुष इन्होंने तोड़ा होता, तो अवश्य कह देते हमने तोड़ा है।"

वर्तमान शिक्षा-पद्धति के परिहास का यह एक अनूठा उदाहरण है। यह हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट करता है कि भारतवर्ष में विद्यार्थी

भारतीय संस्कृति, इतिहास और घटना-प्रसंगों से कितने अपरिचित व कोरे रह रहे हैं।

संस्कृति शिक्षा का अंग

भारतवर्ष एक ऐसा देश है, जिसकी अपनी स्वतंत्र संस्कृति है, जिसका अपना स्वतंत्र इतिहास है और जिसका अपना स्वतंत्र दर्शन है। अर्वाचीन शिक्षा-प्रणाली पश्चिम की देन है। वह युगानुकूल है। वर्तमान के सामाजिक और व्यवसायिक जीवन में उसकी उपयोगिया है, पर, भारतीय लोगों के लिए अपनी संस्कृति, अपने इतिहास का ज्ञान भी किसी मूल्य पर उपेक्षित करने योग्य नहीं माना जा सकता। उस ज्ञान के लिए कोई पृथक् शिक्षा-व्यवस्था नहीं होगी। उसकी पूरक तो वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को ही बनना होगा। समस्या का समाधान इसी में है कि उक्त विषयों को शिक्षा-प्रणाली का अनिवार्य अंग बना दिया जाये।

भारतवर्ष में जन्मे विद्यार्थी को भारतीय मूल्यों का ज्ञान होना ही चाहिए। यह दायित्व वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था ने अब तक अपने ऊपर नहीं लिया है। शिक्षा के सामान्य क्रम में जितना ज्ञान अनायास विद्यार्थी को मिल जाता है, मिल जाता है। उसकी कोई अनिवार्य योजना नहीं है। विद्यार्थी को पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति का ज्ञान ही देना है, ऐसी भी कोई योजना नहीं है, पर, अनायास ही वह पर्याप्त से अधिक उसे मिल जाता है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा की मूल जड़ें वहीं जमी हुई हैं। विद्यार्थियों को दिया जाने वाला 'सामान्य ज्ञान' (general knowledge) भी उन्हीं जड़ों के फूल-पत्तों का है। विद्यार्थी डार्विन, मार्क्स व फ्रायड के विषय में अपने सामान्य ज्ञान के अन्तर्गत ही बहुत कुछ जान लेता है, पर, महावीर, बुद्ध, कणाद, कपिल आदि के विषय में उसे जानने को नगण्य-सा भी नहीं मिलता। इस स्थिति में प्राचीन व अर्वाचीन भारतीय मूल्यों का अवबोध देना आखिर रह किस पर जाता है? उसे भारतीय शिक्षा का अनिवार्य अंग बना देने के अतिरिक्त मार्ग ही क्या रह जाता है?

कुछ वर्षों पूर्व प्रधानमंत्री नेहरू के पास एक विदेशी विद्वान् का पत्र

आया। उसने लिखा था—यहां भारतीय विद्यार्थी आते हैं। यहां के लोग भारतीय संस्कृति, सभ्यता व इतिहास के विषय में उनसे जिज्ञासामूलक प्रश्न पूछते हैं; क्योंकि प्राचीन भारतीय मूल्यों के प्रति उनके मन में एक आदर होता है। भारतीय विद्यार्थियों का उत्तर होता है—हम तो इस विषय में कुछ नहीं जानते। यह उत्तर पाकर यहां के लोगों को आश्चर्य और खेद होता है। सचमुच ही आपके भारत के लिए यह एक लज्जा की बात होती है कि जो संस्कृति दूसरे देशों में कभी विख्यात रही है तथा आज भी विदेशियों के मन में उसको जानने की जिज्ञासा रहती है, भारतीय विद्यार्थी उस विषय में स्वयं को इतना अबुद्ध व्यक्त करें। मेरा निवेदन है, भारत से बाहर जाने की उन्हीं विद्यार्थियों को स्वीकृति दें, जिन्हें अपने देश, अपनी संस्कृति और अपने इतिहास का पर्याप्त ज्ञान हो। अस्तु, आज भी वह प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है और समाधान की प्रतीक्षा करता है।

आज के विकसित राष्ट्रों का तथा आज की सभ्यताओं का उदय भी नहीं हुआ था, उस युग में भी यहां तक्षशिला और नालन्दा जैसे विख्यात विश्वविद्यालय चला करते थे, जिनमें एक व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली थी। उस भारतीय शिक्षा के अपने स्वतंत्र शैक्षणिक मूल्य थे। वह बहुत प्राचीन काल से क्रमशः विकसित होती आ रही थी। उसके मौलिक एवं उपादेय मूल्यों को निम्नोक्त तीन विषयों में अन्तर्गर्भित कर सकते हैं :

१. आत्म-विद्या
२. आचरण
३. विनयशीलता और कर्त्तव्य

आत्म-विद्या

जीवनोपयोगी अन्यान्य विषयों में आत्म-विद्या का प्रथम स्थान था। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार नारद एक बार सनत्कुमार महर्षि के पास गये। महर्षि से पूछा—"भगवन्! मैंने ज्योतिष, गणित, आकाश-गमन, जल-गमन आदि अनेक विद्याएं पढ़ी हैं, पर, मेरे मन को शान्ति नहीं मिली"। महर्षि बोले—"आत्म-विद्या पढ़। शान्ति अन्यत्र कहीं नहीं है।" यह घटना-प्रसंग एक वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालता है। भौतिक ज्ञान

और भौतिक उपलब्धियां मनुष्य को मानसिक शान्ति नहीं दे पातीं। आज का समाज इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। भौतिक ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण होकर भी तथा भौतिक साधनों के अंबार पर बैठकर भी मनुष्य मन और बुद्धि से स्वयं को अशान्त और असुखी प्रतीत करता है। आत्म-विद्या मनुष्य को संग्रह और अभाव दोनों में ही सुखी रख सकती है। उससे मनुष्य का आत्मिक विकास होता है। क्षमा, धैर्य, सन्तोष आदि गुण मिलते हैं। स्वयं को और विश्व को सोचने और देखने का ढंग मिलता है। सामाजिक वातावरण की प्रतिकूल स्थितियां उसे प्रभावित नहीं कर पातीं। सुख और शान्ति वस्तुतः आत्म-गुण ही हैं। भौतिक पदार्थ तो मात्र निमित्त बनते हैं। एक ही पदार्थ विशेष एक के लिए सुखद और शान्तिप्रद हो सकता है, दूसरे के लिए सर्वथा इससे विपरीत। आत्म-परिणति का ही यह अन्तर है। आत्म-विद्या मनुष्य को परिणति-सौष्ठव देती है, जिससे मनुष्य हर परिस्थिति का अनुकूल परिणमन कर सकता है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति में मनुष्य के विचारों एवं प्रवृत्तियों के निर्माण का मूल आधार आत्म-दर्शन रहता था। आत्मा क्या है? बन्धन और मुक्ति के उपादान क्या हैं? पुण्य और पाप व्यक्ति कैसे अर्जित करता है और कैसे उनका फल-भोग करता है? इस आत्म-दर्शन के आधार पर विद्यार्थी का निर्माण ही एक सात्त्विक गृही के रूप में, एक आदर्श नागरिक के रूप में होता था। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में आत्म-विद्या का वह मान-दण्ड उसके साथ रहता था। वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था से उस मानदण्ड का ग्रहण होना तो दूर, अपितु गृहीत मानदण्ड का भी उसके वातावरण में विसर्जन हो जाता है।

पश्चिमी लोगों ने आत्म-विद्या के इस मानदण्ड को प्रमुखता न दी हो, पर, भारतवर्ष की जलवायु में तो उसकी अनिवार्य अपेक्षा प्रतीत होती है। भारतीय समाज आस्तिकता प्रधान है, उसमें उसका शिक्षा-सम्बद्ध होना विवाद का विषय नहीं बनता, प्रत्युत वैसा न हो पाना सबको खलता है।

धर्म-निरपेक्षता में भी

यह सच है कि भारतवर्ष धर्म-बहुल है। इसमें नाना धर्म-सम्प्रदाय

हैं। पर, उतना ही सच यह भी है कि क्रियाकाण्डों को छोड़कर जहां तक अध्यात्म का प्रश्न है, वह लगभग एक है और सर्वसम्मत है। धर्म-निरपेक्षता की मान्यता का अर्थ है—सम्प्रदाय-निरपेक्षता, न कि अध्यात्म-निरपेक्षता। अध्यात्म व नैतिक प्रशिक्षण को मान्यता देकर वर्तमान शिक्षा-पद्धति में आत्म-विद्या का अध्ययन निर्विवाद रूप से जोड़ा जा सकता है।

आचरण

प्राचीन शिक्षा-पद्धति का दूसरा मौलिक पक्ष आचरण का था। आत्म-विद्या में पारंगत होकर निकलने वाले विद्यार्थी सहज रूप से ही नीति-निष्ठ, न्याय-परायण और पाप-पराङ्मुख होते थे। एक पौराणिक आख्यान बताता है—ब्रह्मचारी कौत्स ने ऋषि वरतन्तु के आश्रम में आत्म-विद्या व अन्य विद्याएं पढ़ीं। ऋषि से गुरु-दक्षिणा के लिए आग्रह किया। ऋषि ने कहा—मुझे दक्षिणा नहीं लेनी है। कौत्स ने पुनः आग्रह किया। ऋषि ने झुंझलाकर इतना धन दक्षिणा में मांग लिया कि कौत्स दे नहीं सकता था। वह राजा रघु की राज-सभा में गया। दक्षिणा-योग्य दान की याचना की। रघु का राज-कोश विश्वजित् यज्ञ में रिक्त हो चुका था। रघु ने कुवेर से धन लेने का सोचा। कुवेर ने रघु के प्रताप से प्रभावित होकर उसका राज-कोश स्वर्ण-मुद्राओं से भर दिया। राजा ने कौत्स से कहा—सब धन ले जाओ। कौत्स कहता है—मैं दक्षिणा-योग्य धन ही लूंगा। राजा ने कहा—इस निमित्त से मिले धन की एक मुद्रा भी अपने राज-कोश में रखूं, यह मेरे लिए पाप होगा। कौत्स ने कहा—दक्षिणा-योग्य धन से एक मुद्रा भी अधिक लेना मेरे लिए महापाप होगा। विवाद बढ़ा, पर, कौत्स अपने निश्चय पर अटल रहा। क्रुद्ध होकर भी राजा रघु कौत्स को उसकी अनिवार्य अपेक्षा से अधिक द्रव्य नहीं दे सका। उस निमित्त से मिले धन को राजा भी अपने कोश में रखना न्याय-संगत नहीं समझता था। कौत्स ने अवशेष धन-राशि ग्रहण नहीं की तो राजा ने वरतन्तु के आश्रम में उसका विसर्जन किया। कौत्स की यह नीति-परायणता अध्यात्म-विद्या से प्रसूत थी। रघु राजा की नीति-परायणता भी उसकी अध्यात्म-निष्ठा का परिणाम थी।

आचरण से ज्ञान सुशोभित होता है और ज्ञान से आचरण। यह प्राचीन शिक्षा-पद्धति की मौलिक मान्यता थी। आचार-हीन ज्ञान का मूल्य एक कौड़ी के बराबर भी नहीं होता, यह आचार्य अपने शिष्यों को बराबर सिखलाते ही रहते। वे शिष्यों से पूछते—**किमुत्तमम्** ? तात्पर्य, संसार में सर्वोत्तम क्या है ? शिष्यों के नानाविध उत्तर सुनकर वे उन्हें वास्तविक उत्तर बताते—**सच्चरितं यदस्ति** तात्पर्य, संसार में चरित्र ही सर्वोत्तम वस्तु है।

अध्यापक ही पुस्तक

आचार्य, गुरु व अध्यापक चरित्रवान् हों, यह प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था का बीज-मंत्र था। शिक्षक जितना पुस्तक से विद्यार्थी को सिखलाता है, उससे अधिक विद्यार्थी स्वयं उसके जीवन की पुस्तक से सीख लेता है। पुस्तक के ज्ञान को जब विद्यार्थी शिक्षक के जीवन में नहीं पाता या उससे विपरीत ही पाता है, तो उस पर यही प्रभाव पड़ता है, पुस्तक का ज्ञान तो केवल पढ़ने व बोलने के लिए ही हुआ करता है। आचरण का मानदण्ड कुछ दूसरा ही है।

कठोर दण्ड भी

आचार्य विद्यार्थी की आचार-विषयक त्रुटि पर कठोर दण्ड देते। एक राजकुमार-गुरुकुल में पढ़ता। प्रायः आचार्य के साथ भ्रमण के लिए जाता। एक दिन मार्ग के सन्निकट ही उसने तिल बिछे देखे। राजकुमार ने एक मुट्ठी भरी और आगे चलता बना। पीछे से एक बुढ़िया बड़बड़ाई। कैसे हो तुम राजकुमार ! गरीब बुढ़िया के तिल चुराते हो ? आचार्य आगे चल रहे थे। उन्हें इस घटना का कोई पता नहीं चला। दूसरे दिन भी राजकुमार ने वैसा ही किया। बुढ़िया ने गाली दी। राजकुमार सुनी-अनसुनी कर गया। तिल खाते-खाते मस्ती में आगे बढ़ गया। तीसरे दिन भी जब उसने वैसा ही किया, तो बुढ़िया पीछे से दौड़कर आचार्य के मार्ग पर खड़ी हो गई। झल्लाकर आचार्य से उसने सब कुछ कहा। आचार्य ने राजकुमार की ओर देखा। उसके हाथ में तिल देखे। मन रोष से भर गया। आचार्य

बुढ़िया व राजकुमार को लेकर वापिस गुरुकुल में आये। समस्त विद्यार्थियों की उपस्थिति में बुढ़िया के सामने राजकुमार के तीन कौड़े लगाये। बुढ़िया ने एक कौड़े पर ही आचार्य को रोका और क्षमा कर देने के लिए कहा। आचार्य ने कहा—तीन मुट्ठी तिल चुराये, इसका दण्ड तीन कौड़े से कम नहीं होगा, भले ही यह राजकुमार हो। गुरुकुल के समस्त विद्यार्थियों को एक सबक मिल गया। क्या अन्य कोई भी विद्यार्थी ऐसा दुस्साहस कभी करेगा या राजकुमार भी पुनः कभी ऐसा करने की सोचेगा?

विद्यार्थियों में असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि दोप न आयें, इसका पूरा-पूरा दायित्व गुरुकुल के आचार्यों पर होता था। चरित्र-निर्माण को ही वे वास्तविक विद्या मानकर चलते थे। उनका विश्वास होता **सा विद्या या विमुक्तये** अर्थात् विद्या वही है, जो मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जाये।

विनयशीलता और कर्त्तव्य-बोध

प्राचीन शिक्षा-पद्धति का तीसरा मुख्य अंग विनयशीलता और कर्त्तव्य-बोध था। विनय को आज की परिभापा में अनुशासन कहा जा सकता है, नम्रता कहा जा सकता है। शिष्य के लिए कहा गया—**अणुसासिओ न कुप्पिज्जा खंतिं सेविज्ज पंडिए** अर्थात् विवेकी शिष्य अनुशासित होने पर कुपित न हो, वह क्षमाशील रहे।

गुरु के लिए कहा गया—कुम्भकार जैसे घट का निर्माण करता हुआ एक हाथ से उस पर चोट करता है तथा दूसरे हाथ से उसका बचाव रखता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य का निर्माण करे। ऊपर से उस पर कड़ा नुअशासन रखे तथा अन्तर से उस पर वात्सल्य रखे। गुरु का दायित्व केवल अक्षर-ज्ञान दे देने का ही नहीं है, अपितु शिष्य के सर्वांगीण निर्माण का है।

विद्या-ग्रहण विनय के विना हो ही नहीं सकता, यह वात शिष्य के मन में पूरी तरह से संस्कारित रहती थी। तथा प्रकार के उदाहरण भी प्रचलित थे। राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) की राजसभा में एक हरिजन चोर उपस्थित किया गया। चोरी के अपराध में राजा ने उसे मृत्यु-दण्ड दिया। महामंत्री अभयकुमार दयालु था। चोर ने प्राण-दान की कामना से उसकी ओर झांका। अभयकुमार ने राजा से निवेदन किया—महाराज ! इस चोर के पास एक

दुर्लभ एवं चामत्कारिक मंत्र है। वह आप इससे ले लें ताकि इसके साथ ही वह विनष्ट न हो जाये। राजा ने चोर को आदेश दिया—मंत्र-सिद्धि करा दो। कठघरे में खड़ा विचारा चोर राजा को मंत्र-सिद्धि कराने लगा। अनेक वार के प्रयत्न से भी राजा को मंत्र-सिद्धि नहीं मिली। राजा ने महामंत्री अभयकुमार की ओर झांका। अभयकुमार ने कहा—राजन्! आपको मंत्र-सिद्धि कैसे होगी? अविनय से आप विद्या-ग्रहण कर रहे हैं। हरिजन चोर को गुरु मानकर सिंहासन पर बैठाइए। आप उसके सामने खड़े रहकर मंत्राभ्यास करें। देखें, मंत्र-सिद्धि होती है कि नहीं? राजा ने वैसा ही किया। मंत्र सिद्ध हो गया। राजा पुनः सिंहासन पर बैठा। आरक्षक चोर को वध-भूमि में ले जाने लगे। अभयकुमार ने कहा—राजन्! गुरु-वध का पाप उठाते हैं आप? यह महापाप है। आपको गुरु के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिये। राजा ने प्राण-दण्ड वापिस लिया और चोर को गुरु-बुद्धि से सत्कृत किया। चोर ने भविष्य में चोरी न करने की शपथ ली और अपने घर गया। प्रस्तुत घटना-प्रसंग विनय और कर्तव्य-बोध दोनों का प्रेरक है।

प्राचीन शिक्षा में कर्तव्य-बोध केवल गुरु तक ही सीमित नहीं था। माता-पिता के प्रति, समाज के प्रति व्यक्ति का क्या कर्तव्य है, यह भी शिक्षा का ही एक अंग था। **मातृदेवो भव, पितृ देवो भव;** ये सूक्त प्रत्येक विद्यार्थी के संस्कारों में रहते। विद्यार्थियों को वताया जाता; तीन से उऋण नहीं हुआ जा सकता—गुरु से, माता-पिता से व उससे, जो गहन विपत्ति में तुम्हारा उपकारक हुआ है।

धर्म-निरपेक्षता रूढ़ न हो

पूर्वोक्त तीनों मूल्य वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था के लिए उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य रूप से अपेक्षित भी हैं। इनके अभाव में ही भारतीयों को दी जाने वाली शिक्षा अभारतीय जैसी लग रही है और भारतीयों की सन्तान अभारतीय जैसी वनती जा रही है। धर्म-निरपेक्षता की नीति कहकर विद्यार्थियों को वैदिक, वौद्ध, जैन आदि धार्मिक परम्पराओं के परिचय से कोरा रखा जाता है। वस्तुतः धर्म-निरपेक्षता को भी एक रूढ़ि वनाया जा रहा है। धर्म-निरपेक्षता का तात्पर्य है—प्रशासन किसी एक धर्म विशेप को अपना-

कर न चले तथा शासकीय स्तर पर उसका विस्तार व अन्य धर्मों की अवगणना न करे। धर्म-निरपेक्षता का यह अर्थ तनिक भी संगत नहीं है कि विद्यार्थियों को ऐतिहासिक व आधारभूत परम्पराओं का ज्ञान भी न कराया जाये। अपेक्षित सभी धर्मों का ज्ञान विद्यार्थियों को निर्धारित क्रम से कराया जाये तो धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त टूट जाने वाला नहीं है। धार्मिक महापुरुषों के उपदेश, उनके जीवन-संस्मरण तथा उनका इतिहास तो विद्यार्थियों को सामान्य ज्ञान (general knowledge) विषय के अन्तर्गत भी पढ़ाया जा सकता है। कुछ-कुछ पढ़ाया जाता भी है, पर, नगण्य। वह योजनाबद्ध पढ़ाया जाये, पर्याप्त पढ़ाया जाये और अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाये, तभी अपेक्षा का पूरक हो सकता है।

यथार्थ का दिग्दर्शन

देश में एक ढर्रा चल रहा है। अर्वाचीन शिक्षा-क्रम को बेहद कोसा जाता है। प्राचीन शिक्षा-क्रम की बेहद गरिमा गाई जाती है। दोनों ही बातों में अतिरंजन होता है। इससे यथार्थ ओझल हो जाता है और अयथार्थ मन और बुद्धि पर छा जाता है। यह भारतवासियों की बद्धमूल पद्धति है। वे प्राचीन के गुण ही देखते हैं, नवीन के अवगुण ही। यह बताया जा चुका है कि प्राचीन शिक्षा-क्रम की कुछ अपनी मौलिक विशेषताएं थीं, पर, इसका अर्थ यह नहीं कि वह अर्वाचीन शिक्षा-प्रणाली से सभी बातों में विशेष थी। वस्तुस्थिति यह है कि आज शिक्षा-क्रम जितना व्यापक एवं व्यवस्थित बन रहा है, अतीत में उतना व्यापक एवं व्यवस्थित हुआ हो, ऐसा कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। महावीर और बुद्ध के युग में तथा इससे पूर्व देश में बहुत बड़े विद्यापीठ या विश्वविद्यालय चलते थे, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता। विद्वान् गुरु, आचार्य आदि विरल रूप से मिलते थे। वे राजकुमारों व धनिक-पुत्रों को ७२ कलाएं पढ़ाते थे। उन ७२ कलाओं (विद्याओं) का हम विहंगावलोकन करें, तो उस युग की शैक्षणिक स्थिति का एक खाका सहज ही हमारे सामने आ जाता है। उन ७२ कलाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :

१. लेख

२. गणित
३. चित्र
४. नाट्य
५. गीत
६. वाद्य
७. स्वर-ज्ञान
८. पुष्कर-ज्ञान
९. समतल-ज्ञान
१०. द्यूत
११. जनवाद (वार्तालाप)
१२. नगर-रक्षा
१३. अष्टापद्र—चौपड़
१४. दकमृत्तिका—पानी व मिट्टी से नाना वस्तुएं वनाना
१५. अन्नविधि—पाक-विद्या व अन्न उत्पन्न करने की कला
१६. पान-विधि—पानी साफ करना, उसके गुण-दोप जानना
१७. वस्त्र विधि—वस्त्र वनाना, पहनना, रंगना व धोना
१८. शयन विधि—शयन के उपकरणों व प्रकारों का ज्ञान
१९. आर्या—संस्कृत-कविता वनाने की कला
२०. प्रहेलिका—गूढ़ार्थ-प्रकाशन
२१. मागधिका—छन्द विशेप वनाने की कला
२२. गाथा—प्राकृत गाथा रचने की कला
२३. श्लोक—श्लोक वनाने की कला
२४. गंधयुक्ति—सुगंधित पदार्थ वनाने की कला
२५. मधुसिक्थ—मधुरादिक छः रस वनाने की कला
२६. आभरण-विधि
२७. युवती प्रतिकर्म-प्रशिक्षण
२८. स्त्री-लक्षण
२९. पुरुष-लक्षण
३०. अश्व-लक्षण

३१. गज-लक्षण
३२. वृषभ-लक्षण
३३. कुर्कुट-लक्षण
३४. मेंढा-लक्षण
३५. चक्र-लक्षण
३६. छत्र-लक्षण
३७. दण्ड-लक्षण
३८. असि-लक्षण
३९. मसि-लक्षण
४०. कांगिनी-लक्षण
४१. चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण, सूर्य, राहु व अन्य ग्रहों की गति का ज्ञान तथा उनकी गति के आधार पर सौभाग्य व दुर्भाग्य का निर्णय, रोहिणी-प्रज्ञप्ति आदि विद्या व मंत्रों का ज्ञान तथा प्रच्छन्न वस्तु का ज्ञान।
४२. सभा-संचार
४३. व्यूह—व्यूह रचने की कला
४४. स्कन्धावार-मान
४५. नगर-मान
४६. वस्तु-प्रमाण
४७. स्कन्ध-निवेश—मोर्चाबन्दी का ज्ञान
४८. वस्तु-निवेश—वस्तु-स्थापन करने की विधि
४९. नगर-निवेश
५०. इषुशास्त्र, त्सरुप्रवाद—बाण और अस्त्र-ज्ञान
५१. अश्व-शिक्षा—अश्व को गति का शिक्षण देना
५२. गज-शिक्षा—गज को गति का शिक्षण देना
५३. धनुर्वेद
५४. हिरण्य-पाक—चांदी बनाने की विधि
५५. सुवर्ण-पाक—स्वर्ण बनाने की विधि
५६. मणि-पाक

५७. धातु-पाक—ताम्र आदि धातुओं के बनाने की विधि
५८. बाहु-युद्ध
५९. लता-युद्ध—लता की तरह प्रतिद्वन्द्वी से लिपट कर किया जाने वाला युद्ध
६०. मुष्टि-युद्ध
६१. युद्ध
६२. नियुद्ध—मल्लयुद्ध
६३. युद्धातियुद्ध—महायुद्ध
६४. सूत्र-खेड़नविधि—रस्सियों को खींचकर किया जाने वाला कठ-पुतलियों का खेल
६५. खेल—फटे हुए या छोटे कपड़े को इस प्रकार पहनना, जिससे फटा या छोटा दिखाई न दे।
६६. नालिका-खेल—एक प्रकार का जूआ
६७. चर्म-खेल—चर्म छेद कर वस्तु बनाना
६८. पत्र-च्छेद्य
६९. कट-च्छेद्य—स्वर्णादिक के कुण्डलों को छेदना
७०. सजीव—मूर्छित को मंत्र-शक्ति से संजीवन करना
७१. निर्जीव—सजीव को निर्जीव बनाना
७२. शकुनरुत—शकुनों व स्वर का ज्ञान

इन कलाओं को पढ़ाने वाले भी विरल होते थे। पढ़ने वाले भी विरल होते थे। युद्ध, संगीत, वाणिज्य, गणित, लेख, पाक आदि विषय ज़ीवनोपयोगी हैं, पर, वे उस युग में कितने विकसित थे और किस पराकाष्ठा तक पढ़ाये जाते थे, यह हम उक्त विषयों के क्रमिक विकास का इतिहास पढ़कर सहज ही जान सकते हैं। इनमें अधिकांश विषय आज की अपेक्षा बहुत ही अल्प विकसित अवस्था में थे। ७२ कलाओं में धनुर्विद्या आदि ऐसे भी अनेक विषय हैं, जिनका उस युग में जन-जीवन से सम्बन्ध था, पर, आज वे सर्वथा निरुपयोगी हो गये हैं। उस युग में द्यूत कला को भी शिक्षा का अंग माना गया था। आज वह एक दुर्व्यसन बन गया है। जीवन के मूल्य देश-काल के साथ कैसे बदलते या परिष्कृत होते रहते हैं, यह इसका एक

उदाहरण है।

एतद् विषयक प्राचीन समुल्लेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि ये सारे विषय एक ही आचार्य विद्यार्थी को पढ़ा देता था। एक ही आचार्य इन समग्र विषयों का कितना-सा पारंगत हो सकता है या एक ही विद्यार्थी इतने सारे विषयों में कितना-सा निष्णात हो सकता है? लगता है, आज की परिभाषा में जिसे हम सामान्य ज्ञान कहते हैं, वह उस कोटि का ही अध्ययन रहा होगा।

आज के शिक्षा-क्रम में पढ़ाये जाने वाले विषय मुख्यतः कला, विज्ञान एवं वाणिज्य; इन तीन भागों में बांटे जाते हैं। कला के अन्तर्गत—साहित्य, दर्शन, इतिहास, संगीत, कानून, चित्र-कला, हस्त-कला, राजनीति, तर्क शास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षा-विज्ञान, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि मुख्य विषय हैं। विज्ञान के अन्तर्गत—भौतिकी, रासायनिकी, अभियांत्रिकी, जैविकी, तकनीकी, गणित, भूगोल, भू-गर्भ, ज्योतिर्विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, कृषि-विज्ञान आदि मुख्य विषय हैं। वाणिज्य के अन्तर्गत—अर्थ शास्त्र, बैंकिंग, लेखा, बीमा, व्यवसाय-प्रशासन आदि मुख्य विषय हैं। इन अन्तर्गत विषयों में भी एक-एक की अनेक धाराएं हैं, जिनका बहुत ही विस्तृत ब्यौरा बनता है।

प्रत्येक शाखा-विषय की परिपूर्णता एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० आदि तक मानी जाती है और नया अनुसन्धान जीवन भर करते रहने के लिए शेष रहता है। बहुत प्राचीन काल में शिक्षा इतनी व्यवस्थित रही होगी, क्या कल्पना भी की जा सकती है?

प्राचीन शिक्षा और अर्वाचीन शिक्षा में व्यापकता और सुलभता की दृष्टि से भी बड़ा अन्तर है। प्राचीन काल में शैक्षणिक संस्कार भी आज की तरह जन-जन में व्यापक नहीं थे। न शिक्षण-संस्थाएं भी इतनी व्यापक थीं। विरल गुरुकुल होते और विरल ही पढ़नेवाले। महामन्त्री चाणक्य के गुरुकुल का दिग्दर्शन कराया गया है—एक ओर कण्डे तोड़ने की पथरी पड़ी है, एक ओर छात्रों द्वारा संगृहीत लकड़ियों का ढेर है।

आज गांव-गांव में और नगरों की गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले में विद्यालय हैं। पढ़ने वाले इतने अधिक कि इच्छित विद्यालय में स्थान पा

लेना भी कठिन होता है। शिक्षितों व साक्षरों के आज के अनुपात में और ढाई हजार वर्ष पहले के अनुपात में अनिर्वचनीय अन्तर सम्भव हो सकता है। बिंबिसार के राजवैद्य जीवक कौमार भृत्य को विद्यार्थी-जीवन में एक दिन उसके आचार्य ने आदेश दिया—नगर के बाहर पर्वत की अपत्यका और अधित्यका पर घूमो। वहां जितनी तुम्हें अजानी या निरुपयोगी औषधियां मिलें, उन्हें बटोर कर मेरे पास ले आओ। जीवक गया। आदेशानुसार परिभ्रमण करके वापिस आया। आचार्य से उसने कहा—भगवन्! पर्वत के शिखर पर और उसकी तलहटी में ऐसी एक भी वनस्पति मुझे नहीं मिली, जो मुझे अजानी या निरुपयोगी लगी हो। आचार्य ने कहा—तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये हो, अब अपने घर जाओ।

परीक्षा का प्रकार बहुत सहज और सुन्दर है, पर, वह उस युग के अध्ययन और ज्ञान की सीमित दशा का भी परिचायक है। प्राचीन काल की शिक्षा-प्रणाली की गरिमा में तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों के नाम भारतीयों के मुंह पर रहते हैं, पर, वे अतिप्राचीन होकर मध्यकालीन ही ठहरते हैं। तक्षशिला का उत्कर्ष-काल सम्राट् कनिष्क का राज्य-शासन (ईस्वी सन् ९० से) तथा नालन्दा का उत्कर्ष-काल सम्राट् हर्ष का राज्य-शासन (ईस्वी सन् ६३० से) माना गया है। सच है कि उस युग में वे अपनी शिक्षा-व्यवस्था में महत्वपूर्ण थे। नाना विषय व्यवस्थित रूप से वहां पढ़ाये जाते थे। पर, इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि वर्तमान विश्वविद्यालयों से वे सब बातों से बढ़े-चढ़े थे। वाराणसी, मिथिला, उज्जयिनी, कश्मीर आदि नगर विद्या-प्राधान्य से विख्यात रहे हैं, पर, अपने-अपने युग में और उस देश-काल के ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा में। अस्तु, प्राचीन शिक्षा-प्रणाली वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की अपेक्षा सब बातों में श्रेष्ठ थी या वर्तमान शिक्षा-प्रणाली उसकी तुलना में कुछ है ही नहीं, भारतीयों का यह बद्धमूल संस्कार यथार्थ नहीं है। प्रस्तुत विवेचन का हार्द भी किसी प्रणाली को न्यून या अधिक बताने का नहीं, अपितु वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने का है। मनुष्य के मंजिल तक पहुंचने में बहुधा वस्तुस्थिति का अज्ञान ही बाधक बनता है।

शिक्षा व संस्कृति का सह-अस्तित्व

भारतीयों के सामने शिक्षा और संस्कृति का एक द्वंद्व है। शिक्षा आ रही है, संस्कृति जा रही है। वर्तमान युग में शिक्षा का भी अपना सम्बन्ध जीवन के साथ इतना जुड़ गया है कि अब नहीं कहा जा सकता, संस्कृति रहे, शिक्षा भले ही चली जाये। इस स्थिति में शिक्षा और संस्कृति के सह-अस्तित्व का मार्ग ही श्रेयस्कर हो सकता है और यही प्रस्तुत विवेचन का निष्कर्ष रहा है।



: ७ :

संतति-संयम : व्यक्ति और विश्व

एक समाधान : एक समस्या

प्रश्न के साथ समाधान खड़ा होता है और समाधान के साथ प्रश्न। अकाल मृत्यु से मनुष्य को कैसे बचाया जाए, यह एक प्रश्न था। नाना दिशाओं से समाधान खड़े हुऐ। संक्रामक और असाध्य रोगों पर विजय पाई गई। दुर्भिक्ष को हतप्रभ किया गया। प्रतिदिन के होने वाले युद्धों से मनुष्य ने विराम लिया। जीवन-तत्त्व के पोषक साधन उसने जुटाए। परिणामतः मृत्यु का अनुपात घटा। जन-संख्या बढ़ने लगी। वह भी इतनी बढ़ने लगी कि वर्तमान की एक ज्वलन्त समस्या बन गई। बढ़ने का क्रम भी इतनी द्रुत गति से बढ़ रहा है कि मनुष्य बेचैन है।

कहा जाता है, ईस्वी पूर्व १६०० में विश्व की जन-संख्या २५ करोड़ ही थी। ईस्वी प्रथम शताब्दि तक वह बढ़कर ५० करोड़ हुई। तात्पर्य, दुगुनी होने में १६०० वर्ष लगे। आज विश्व की जन-संख्या लगभग साढ़े तीन अरब है। जिस अनुपात से जन-संख्या अभी बढ़ रही है, उसे ७ अरब होने में केवल ३५ वर्ष ही लगेंगे। वही अनुपात फिर चालू रहा तो प्रति ८ वर्ष में एक अरब जन-संख्या बढ़ती रहेगी। ऐसा होते ६५० वर्षों में ही पृथ्वी पर ऐसी स्थिति आ जाएगी कि एक मनुष्य को एक वर्ग-फुट जगह में ही जीना पड़ेगा।

यह सच है कि मनुष्य ऐसी परिस्थिति इस पृथ्वी पर आने नहीं देगा। सांख्यिकी (Statistics) के ये आंकड़े चरितार्थ नहीं होंगे। आज का प्रबुद्ध

मनुष्य ऐसी स्थिति आने से पूर्व ही संभल जायेगा। वहुत कुछ तो वह संभल भी गया है, पर, ये आंकड़े केवल शेखचिल्ली के घड़े हैं, यह मानकर चलना भी वुद्धिमानी नहीं होगी।

समस्या केवल लम्बाई जा सकती है

मनुष्य न भी संभला, तो भी एक वर्ग-फुट में वह जीये, ऐसी परिस्थिति पृथ्वी पर नहीं आएगी, क्योंकि इससे पूर्व ही लाखों-करोड़ों लोग भुखमरी से मरने भी तो लगेंगे, ऐसा गाणितिकों का कहना है। प्रश्न होता है, मनुष्यों की संख्या वढ़ेगी, कृपि-विज्ञान विकसित हो ही रहा है, इस स्थिति में क्या यह संभव नहीं होगा कि जन-संख्या के अनुपात में खाद्य-सामग्री की उपज भी वढ़ जाये और मनुष्य सुरक्षित रहे? यह सच है कि मनुष्य वढ़ रहे हैं तो काम करने वाले भी वढ़ रहे है; पर, वढ़ते हुए मनुष्य भूमि को भी तो रोकते जा रहे हैं। भूमि घटती जाएगी और उपज वढ़ती जाएगी, यह संभव ही कैसे हो सकता है? विज्ञान के युग में उपज की वृद्धि भूमि की विशालता पर ही मुख्य रूप से आधारित है। यांत्रिक विकास मनुष्यों की आवश्यकता को तो प्रत्युत सीमित कर रहा है; अतः अधिक मनुष्य होंगे तो अधिक उपज होगी, यह विचार यथार्थ नहीं है। वैज्ञानिक साधन अपनी विकासमान स्थिति में कितनी उपज वढ़ा सकेंगे व जन-संख्या की वृद्धि का वे कहां तक साथ दे सकेंगे, इस पर भी समाज-शास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों ने विचार किया है। उनका कहना है, आधुनिक कृपि-साधन जन-संख्या से आने वाली परिस्थिति को केवल २० वर्ष लम्बा सकेंगे, पर, उसे टाल नहीं सकेंगे।

सर्वसाधारण ही नहीं, वहुत सारे विचारक भी इस विपय को व्यर्थ की चिन्ता मानते हैं। भारत में ऐसे लोगों की वहुलता है। इसका कारण है, भारतीयों का वौद्धिक स्तर समाज-विकास के क्षेत्र में अभी वहुत ही शैशव स्थिति में है। इतनी दूर तक देखना व दूरस्थ वाधाओं के निराकरण का मार्ग चुनना अभी उनमें पर्याप्त रूप से आया नहीं है। विकसित राष्ट्रों की वर्तमान स्थिति तक पहुंचने में केवल साधन-सिद्धि व उत्पादन-वृद्धि ही कारणभूत नहीं वनी है। सन्तति-नियमन भी उसका एक आधार रहा है।

उन देशों ने समय पर जन-वृद्धि के परिणामों को समझा और समय पर उसे रोका। अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों की सुदृढ़ धारणा बन रही है कि कितनी ही पंचवर्षीय योजनाएं क्रियान्वित की जाएं, कितने ही आधुनिक साधन प्रयोग में लाये जायें, बिना बढ़ती हुई जन-संख्या को सीमित किये कोई देश न तो प्रगति ही कर सकता है और न सुदीर्घ अवधि तक जी भी सकता है। पश्चिमी विचारकों का मानना है, विश्व के सामने दो ही समस्याएं हैं; आणविक युद्ध और बढ़ती हुई जन-संख्या। उनकी दृष्टि में दोनों का परिणाम भी समान है और वह है, भीषण नर-संहार।

भारत की परिस्थिति

भारत विश्व के उन देशों में से है, जहाँ की जन-संख्या असाधारण रूप से बढ़ रही है। स्वराज्य से पूर्व भारत की जन-संख्या ३३ करोड़ थी। अब वह बढ़कर ५५ करोड़ हो गई है। प्रति-मास १० लाख और प्रति वर्ष १ करोड़ २० लाख के अनुपात से जन-संख्या का बढ़ना चालू है। यह अनुपात प्रतिवर्ष की वृद्धि के साथ कितनी द्रुत गति से बढ़ता जायेगा, यह हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। प्रलम्ब पराधीनता के पश्चात् भारत अपने पैरों पर खड़ा होने जा रहा है। अल्प विकसित देशों में उसकी गणना है। दूसरे देशों से ऋण ले-लेकर वह अपने भरण-पोषण की व अन्य अपेक्षाएं पूरी कर रहा है, विकास की योजनाएं क्रियान्वित कर रहा है। यह भारत की स्थिति और यह उसकी बढ़ती हुई जन-संख्या है। क्या सोचा भी जा सकता है कि देश कभी सशक्त रूप से अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा? वह व्यक्ति कब कोटिपति हो सकता है, जिसके छोटी-सी दुकान है, उधार की पूंजी और बड़ा परिवार है? उस बिचारे को तो रोज-मर्रा का खर्च, बच्चों की शिक्षा, आये दिन की बीमारी, आये वर्ष का विवाह-प्रसंग और दूसरे के पैसों का व्याज भी चैन की साँस नहीं लेने देगा। व्यवसायिक प्रगति का तो प्रश्न ही क्या?

धर्म और संस्कृति के संदर्भ में

प्रशासनिक स्तर पर परिवार-नियोजन को मान्यता मिली है। प्रशा-

सन इस दिशा में सक्रिय और सचेष्ट है। पर, व्यक्ति-व्यक्ति जब तक परिवार-नियोजन की उपयोगिता न समझ ले, तब तक स्थिति में कोई परिवर्तन कैसे आ सकता है? भारत प्राचीन विश्वासों का देश है। नवीन प्रथा के नाम से ही झिझकता है। वह प्रथा पश्चिम से आई हो, तो उसकी झिझक दुगुनी हो जाती है। वह उसे अपनाने से पूर्व अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने धर्म की ओर झांकता है। वहां से उस प्रथा की उपादेयता और अनुपादेयता का उत्तर मांगता है। यह कोई बुरी बात भी नहीं है। किसी प्रथा को अपनाने से पूर्व उसे अपनी इन कसौटियों पर कसना ही चाहिए। बात रहती है, संस्कृति, सभ्यता व धर्म के क्षेत्र से सही उत्तर पाने की। संस्कृति और सभ्यता के अगुआ तथा धर्माचार्य व धर्मगुरु ऐसे विषयों पर बहुत बार ढर्रे के रूप में ही उत्तर दे देते हैं। उस पर सर्वांगीण विचार नहीं करते। वे अनेक ऐसी बातों का भी नकारात्मक उत्तर दे देते हैं, जिसकी समाज के लिए उपयोगिता है, जो धर्म व संस्कृति से बाधित नहीं हैं। समाधान भी देते हैं तो ऐसा कि जो व्यवहारिक ही न हो।

समाज व देश के लिए घातक

संतति-संयम का प्रश्न भी ठीक इसी प्रकार का बन गया है। कुछ लोगों ने तो इसको आवश्यक ही नहीं माना, प्रत्युत समाज के लिए घातक माना है। कुछ लोगों ने आवश्यक तो माना है, पर, संतति-संयम के लिए आधुनिक उपायों को उपयोग में लाना उन्हें धर्म और संस्कृति के अनुकूल नहीं लगता। प्रथम पक्ष के लोगों की तर्क है, भारत में हिन्दू संतति-संयम के अभियान को अपनायेंगे, मुसलमान, ईसाई आदि नहीं अपनायेंगे, इस स्थिति में किसी दिन हिन्दू अल्प संख्यक हो जायेंगे और जनतंत्र के अनुसार दूसरी जातियां उन पर राज्य करेंगी। इसी सम्बन्ध में दूसरी तर्क है—भारतवर्ष ने संतति-संयम की योजना क्रियाविन्त की और पाकिस्तान ने नहीं की या उतनी नहीं की; क्योंकि वहां बहुपत्नी प्रथा है, तो वह सशक्त होता जायेगा और भारत दुर्बल।

व्यर्थ की आशंकाएं

दोनोंही आशंकाएं एक संकीर्ण दृष्टि-बिन्दु पर केन्द्रित हुई हैं। देश

या विश्व-चिन्तन का आधार नहीं है। यह तो सच है ही कि आदर्शों को जब स्वार्थ परक छोटे हितों में सोचने लगेंगे, तो वे अन्यथा ही प्रतीत होने लगेंगे। अपने बच्चों को सच बोलना न सिखायें; क्योंकि दूसरों ने अपने बच्चों को वैसा नहीं सिखाया, तो हमारे बच्चे ठगे जायेंगे; यह कोई तर्क नहीं होता। दूसरे लोग संतति-संयम को नहीं अपनायेंगे, यह सोचना भी निराधार ही है। शैक्षणिक और बौद्धिक विकास के साथ सभी जातियाँ इसे अपना रही हैं। पाकिस्तान जन-संख्या में बड़ा हो जायेगा, भारतवर्ष छोटा हो जायेगा, यह चिन्तन भी हास्यास्पद ही है। पाकिस्तान में जितनी भूमि है, जन-संख्या उस अनुपात से बहुत अधिक बढ़ी, तो आवास और कृषि का द्वन्द्व क्या वहां खड़ा नहीं हो जायेगा? भुखमरी और बेकारी का सामना क्या उसे नहीं करना पड़ेगा? उक्त प्रश्न के साथ वस्तुस्थिति की भी संगति नहीं है। पाकिस्तान ने तो स्वयं परिवार-नियोजन की योजना को अपनाया है। प्रशासनिक स्तर पर वह इस दिशा में सक्रिय एवं लक्ष्यबद्ध हुआ है। व्यर्थ की आशंकाएं और व्यर्थ के प्रश्न भारतवर्ष में बहुत खड़े होते रहे हैं। उनमें एक यह भी है।

ब्रह्मचर्य का आलम्बन

संतति-निरोध में आधुनिक विधाओं का उपयोग जिन लोगों को हेय लगता है, उनका कहना है—भारतीय संस्कृति संयम-प्रधान है; अतः संतति-निरोध के लिए भी ब्रह्मचर्य का ही आलम्बन लेना चाहिए। संतति-निरोध का प्रश्न मात्र व्यावहारिक है। उसे धर्म और संस्कृति का प्रश्न मानकर रूढ़ बना देना आवश्यक नहीं है। ब्रह्मचर्य के द्वारा संतति-निरोध किया जाये, यह सर्वोत्तम ही है। पर, इस पक्ष के उठाने वालों ने यह विचार नहीं किया कि ब्रह्मचर्य संतति-निरोध का व्यवहारिक समाधान कैसे होगा? निर्धारित सन्तान हो जाने के पश्चात् सारा समाज क्या जीवन भर के लिए ब्रह्मचारी बन जाये? क्या यह शक्य हो सकता है?

कहा जाता है, व्यक्ति अब्रह्मचर्य को स्वल्प करे, ब्रह्मचर्य को बढ़ाये, संतति-निरोध स्वतः हो जायेगा। यह अनभिज्ञतापूर्ण बात है। मनुष्य कितना ही सीमाबद्ध हो, अपूर्ण ब्रह्मचर्य संतति-समस्या का समाधान नहीं

बनता। जिसके दो या तीन सन्तान हो चुकी, वह भविष्य में साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक कितना संयम रखे, जिससे कि और सन्तान न हो? असमग्र ब्रह्मचर्य के क्षेत्र से इसका कोई उत्तर मिल नहीं सकता। कहा जाता है, भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में गर्भाधान की जो तिथियां बताई हैं, उन तिथियों में ब्रह्मचर्य का पालन हो, संतति-निरोध हो जायेगा। यह यथार्थ नहीं है। मासिक धर्म के पश्चात् अमुक-अमुक दिनों में ही गर्भाधान होता है, अमुक अवधि में नहीं होता, यह भारत की प्राचीन मान्यता है। इसमें कुछ यथार्थता भी है, पर, इसमें निश्चितता नहीं। उक्त मान्यता के विपरीत भी बहुत बार होता है। वस्तुस्थिति यह है कि मास का कोई भी दिन या सप्ताह अगर्भाधान के लिये सुरक्षित नहीं हैं। अस्तु, संतति-निरोध के विषय में संयम की बात रट मात्र ठहर जाती है। सिद्धान्त रूप में यह बात उचित है ही कि शक्य संयम से अपेक्षित संतति-निरोध फलित होता हो तो इस दिशा में प्राथमिकता उसे ही दी जानी चाहिए।

अब्रह्मचर्य की वृद्धि

कहा जाता है, गर्भ-निरोध के प्रचलित साधनों को सामाजिक मान्यता मिली, तो समाज में अब्रह्मचर्य का आसेवन बढ़ जायेगा। गर्भाधान का भय नहीं होगा, तो व्यक्ति वासना-पूर्ति के लिए उन्मुक्त आचरण करेगा। यह कोई तर्क नहीं है। गर्भाधान के भय से बहुत सारे दम्पती ब्रह्मचर्य का पालन करते हों, ऐसा नहीं लगता। आंशिक अब्रह्मचर्य भी गर्भाधान के लिए पर्याप्त हो जाता है, तो उस भय का कोई अर्थ भी तो नहीं है। सामाजिक दुराचार इससे बढ़ सकते हैं, यह सोचना भी निराधार-सा ही है। दुराचार स्वयं सामाजिक अपराध है। जो लोग दुराचार जैसा सामाजिक अपराध करने पर ही तुले हैं, वे गर्भ-निरोध के लिए सामाजिक अमान्यता में भी क्या उन साधनों का उपयोग नहीं करते रहेंगे?

वैयक्तिक हित भी

प्रश्न होता है, क्यों आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र और विश्व की चिन्ता में अपने व्यक्तिगत जीवन को बदले? व्यक्ति राष्ट्र और विश्व का

एक अभिन्न अंग है। व्यक्तिगत हितों को भी उसे देश, विश्व या समाज के लिए गौण करना ही होता है। संतति-संयम का प्रश्न तो देश-हित और विश्व-हित से भी बढ़कर व्यक्ति-हित का भी है। बढ़ती हुई जन-संख्या का दुष्प्रभाव देश या विश्व पर कब और कितना आयेगा, यह एक दूर की बात है, पर, अधिक संतति का परिणाम स्वयं व्यक्ति के लिए तो उसकी अधेड़ उम्र में ही उसके सामने आ जाता है। दरिद्रता, दुर्भिक्ष, महामारी उसके घर में ही फलित होने लगते हैं। प्राचीन काल में इसका कोई व्यावहारिक व सुगम हल नहीं था। चाहे-अनचाहे भी परिवार-वृद्धि होती जाती थी। व्यक्ति कर्मदोष या होनहार मानकर ही सन्तोष ले लेता था। अब ऐसी स्थिति नहीं रही कि अनचाहे भी व्यक्ति को सन्तान-वृद्धि का कष्ट उठाना पड़े।

टाल कौन सकता है ?

कुछ लोग कहते हैं, जिसके जितनी सन्तान लिखी है, उसे टाल कौन सकता है ? जिसको पैदा होना है, उसे रोक कौन सकता है ? यह एक रूढ़ आस्था है। इसके पीछे कर्मवाद का यथार्थ चिन्तन नहीं है। किसी का पैदा होना नहीं टाला जा सकता, तो किसी का मरना भी टाला नहीं जा सकता। फिर मरते दम तक उसे दवा, इन्जेक्शन आदि से बचाने का प्रयत्न क्यों किया जाता है ? यथार्थ यह है कि भारतीय कर्मवाद पुरुषार्थ की उपेक्षा कभी नहीं करता। वह सत्क्रिया से विहित कर्मों का नाश भी मानता है।

संतति-निरोध का प्रश्न नितान्त सामाजिक है, अतः अध्यात्म-क्षेत्र के लोगों का इस दिशा में कोई अभिमत बनना अनपेक्षित है; यह भी एक तर्क है। धर्म और समाज परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। धर्म समाज के लिए है और समाज धर्म के लिए। धर्म को समाज-निरपेक्ष कर दिया गया, तो उसकी कोई उपयोगिता भी क्या रहेगी ? उचित-अनुचित के बीच की रेखा मुख्यतः धर्म ही निश्चित कर रहा है। संग्रह-संयम की बात वह कह सकता है, तो संतति-संयम की बात भी कह सकता है। अध्यात्म तो जीव-वध और जीवोत्पत्ति ; इन दोनों का ही निषेधक सदा से रहा है।

□ □

: ८ :

अहिंसा : अतीत के उन्मेष, अनागत की दिशाएं

उत्कर्ष की ओर या अपकर्ष की ओर ?

कहा जाता है, देश में और विदेश में हिंसा बहुत बढ़ रही है। विघटनकारी सेनाएं प्रान्त-प्रान्त में बढ़ती जा रही हैं। भाषा, प्रान्त व जातीयता के झगड़े आये दिन होते रहते हैं। गो-वध का निषेध नहीं हो रहा है। प्रतिदिन सहस्रों गौएं कटती हैं। मांसाहार मुक्त रूप से प्रचलित हो ही रहा है। विश्व के धरातल की ओर झांकें, तो अणुबम और उद्जन बम का राक्षस मानो सभ्यता, संस्कृति और मनुष्य को निगलने आ ही रहा है। पद-पद पर अहिंसा पिछड़ती जा रही है और हिंसा अप्रतिहत गति से आगे बढ़ रही है।

यह सच है कि देश में और विश्व में उक्त प्रकार की हिंसाएं शिखर पर हैं। देश और विश्व इन हिंसाओं से आतंकित भी है। पर, यह सच नहीं है कि अहिंसा मिटती जा रही है और हिंसा बढ़ती जा रही है। यथार्थ में हिंसा सीमित होती जा रही है और अहिंसा व्यापक होती जा रही है। अहिंसा उन्मेष की ओर है और हिंसा निमेष की ओर। यथार्थ से उल्टा यह इसलिए लग रहा है कि हम इस विषय को अपने बद्धमूल ढर्रे के अनुसार ही सोचते हैं और देखते हैं। वह ढर्रा है—अपकर्ष को देखना, उत्कर्ष को भुलाए रखना।

क्रमिक उन्मेष

अहिंसा क्रमशः कैसे विकसित होती आ रही है, यह हम देखें। कभी मनुष्य 'नर-मेध' यज्ञ करता था। मनुष्य की बलि दी जाती थी। अहिंसा का विवेक बढ़ा तो मनुष्य 'अश्व-मेध' आदि यज्ञों पर आया; जिसमें केवल पशुओं की ही बलि दी जाती थी। किसी युग में आकर इन यज्ञों का भी परित्याग मनुष्य ने किया। उसके आहार में भी निरामिषता का विवेक जगा। व्यक्ति ही नहीं, जातियां और समाज ही निरामिष-भोजी बन गये। दास-प्रथा की हिंसा देश से और विश्व से मिटी। क्या यह सब हिंसा पर अहिंसा की विजय नहीं होती रही है? क्या मनुष्य हिंसा से अहिंसा की ओर आगे नहीं बढ़ा है?

गांधी-युग ने राजनीति में भी अहिंसा का प्रवेश करा दिया। सफलता भी मिली। शताब्दियों से चली आने वाली पराधीनता से अहिंसा के बल पर छुटकारा मिला। अहिंसा के इतिहास में एक अपूर्व अध्याय जुड़ा।

हिंसा बढ़ रही है?

विज्ञान ने आणविक साधन देकर गिरती हुई हिंसा को फिर से प्रखर किया। अनेक देश आणविक अस्त्रों से सुसज्ज हुए और हो भी रहे हैं। आणविक अस्त्रों की चकाचौंध में अहिंसा निष्प्रभ व निस्तेज नहीं हुई। वह भी अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आ खड़ी हुई। होते-होते विश्व-युद्ध को उसने कितनी ही बार टाल दिया है। उसने ही तो संयुक्त राष्ट्र-संघ खड़ा किया है। वही तो निःशस्त्रीकरण के सम्मेलन आये दिन रच रही है। पंचशील का उद्‌घोष भी तो उसकी ओर से ही मुखर हो रहा है। कहना चाहिए, अब तक तो हिंसा की अपेक्षा विश्व में अहिंसा का प्रभाव ही अधिक कार्य कर रहा है और उसके आधार पर ही सारा विश्व टिक रहा है। हिंसा बढ़ रही है, यह विचार अयथार्थ है और मन में हीनता व ग्लानि भर देने वाला है तथा अहिंसा-निष्ठा को डगमगा देने वाला भी है।

भाषा व प्रान्त के हिंसक विवाद

अहिंसा के सामने अब दो ही कार्य हैं। समय-समय पर हिंसा के कुछ एक जो नये आयाम सामने आते हैं, उन्हें रोकना और अतीत के सुनहरे अध्यायों की शृंखला में नये अध्याय जोड़ते जाना। देश में आये दिन प्रान्त, भाषा व जातीयता आदि के झगड़े भभकते हैं। हिंसा फूट पड़ती है। सड़कें लहूलुहान हो जाती हैं। विघटनकारी सेनाएं भी बल पकड़ती जा रही हैं। सचमुच ही हिंसा का यह एक नूतन आयाम है। स्वाधीनता से पूर्व इस प्रकार के हिंसक उपक्रम नहीं होते थे तथा न ऐसा हो सकने की परिस्थिति भी थी। स्वतन्त्र भारत का नवीन भौगोलिक मान बन रहा है। भाषाई आधार पर प्रान्त और प्रान्तीय सीमाएं बनाई गई हैं। किसी नवीन व्यवस्था के आरम्भ में कहीं-कहीं ऐसा घटित होना अनहोनी बात नहीं है। प्राचीन काल में तो आज के प्रान्त और जिले ही एक-एक स्वतंत्र राज्य थे। सीमा-विवाद पर आये दिन युद्ध होते थे। एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण भी करता था। लूट-पाट भी होती रहती थी। उस अपेक्षा में तो आज की विघटनकारी सेनाएं और आज के प्रान्तीय एवं सीमा-विषयक संघर्ष सर्वथा नगण्य ही रह जाते हैं। पर, बुद्धि और सभ्यता के वर्तमान युग में इतना भी होना लज्जास्पद है। जनतंत्र में किसी भी समस्या के लिए संसदीय प्रणाली से चलना उचित होता है। ध्वंस, हिंसा व हत्या आदि प्रकार तो असंसदीय ही नहीं, असामाजिक व अमानवीय ही होते हैं। मानना चाहिए, समाज में ज्यों-ज्यों शिक्षा व सभ्यता बढ़ेगी, त्यों-त्यों हिंसात्मक उपद्रव स्वतः ही स्वल्प होते जायेंगे।

चिन्ता की बात तो यह है कि शिक्षा व सभ्यता के प्रतीक विद्यार्थी ही बहुत बार हिंसात्मक व तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में अग्रसर हो जाते हैं। विद्यार्थियों की अप्रौढ़ता और भावावेश-वृत्ति ही इसका मुख्य आधार होती है।

शान्तिकारी सेनाएं

विघटनकारी सेनाओं एवं आन्दोलनों का एक सुन्दर समाधान है—

देश में शान्तिकारी सेनाओं का निर्माण। एक प्रान्त में जहां विघटनकारी सेना बनी है, उस प्रान्त में शान्तिकारी सेना भी बने। उसका कार्य और लक्ष्य हो, दुर्घटना-स्थल पर पहुंचना और शान्ति स्थापित करना। ऐसा करने में उन्हें अपने प्राण भी दे देने पड़ें तो दें। इस प्रकार की सेनाएं केवल युवक विद्यार्थियों की ही बनें, तो एक प्रभावशाली उदाहरण समाज के सामने आ सकता है। जिस प्रान्त में, जिस क्षेत्र व विद्यालय में विघटनकारी तत्त्व काम करते हों, वहां अविघटनकारी तत्त्व भी प्रभावशाली कार्य करने लगें, तो हिंसा का वह नूतन अध्याय अवश्य शिथिल व शान्त होगा।

अहिंसा की ऊर्जा

समाज में अशान्ति-प्रिय लोग बहुत ही कम संख्या में होते हैं। शान्ति-प्रिय तो शेष सब होते ही हैं। पर, अशान्ति-प्रिय लोगों में सक्रियता होती है। शान्ति-प्रिय लोगों में निष्क्रियता होती है। उस निष्क्रियता का लाभ अशान्ति-प्रिय लोग उठाते हैं। कुछ एक उपद्रवकारी सारे नगर को आतंकित कर देते हैं। दुकानों, आफिसों और घरों के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। उपद्रवकारी सारे मुहल्ले या नगर में मनमानी लूट करते हैं, मनमानी होली जलाते हैं। यह अहिंसा की निष्क्रियता का परिणाम है। लोग पुलिस और मिलिट्री की प्रतीक्षा करते हैं। पर, स्वयं सामूहिक रूप में आकर उपद्रवकारियों के सामने खड़े नहीं होते। हिंसा का उत्तर वे हिंसा से न दें, लेकिन, अपने साहस व अपनी प्राणवत्ता का तो परिचय दें। अहिंसा में हिंसा जितना संगठन और हिंसा जितनी सक्रियता लाई जाये, यह नितान्त अपेक्षित है। ऐसा किसी दिन सम्भव हुआ, तो अहिंसा की ऊर्जा हिंसा को सदा के लिए परास्त कर देने वाली सिद्ध होगी।

गो-वध-परिहार

देश में गो-वध का परिहार हो, यह भी अहिंसा का एक अग्रिम चरण होगा। मनुष्य अपने खाद्य-पेय के सम्बन्ध में पशु को मारना अब तक नहीं भूला है। यह नया चरण-विन्यास गो-वध-परिहार से आरम्भ हो और अन्य प्राणियों का वध भी क्रमशः परिहार्य होता रहे, यह यथेष्ट ही है। अहिंसा

के इस विकास का सम्वन्ध हृदय-परिवर्तन से है। जन-जन का हृदय वदल कर यह मान्यता सर्वसम्मत या वहुसम्मत हो जाये, तो गो-वध-निषेध का विपय प्रशासनिक मान्यता सहज ही पा सकेगा। अहिंसा के इस चरण-विन्यास को हिंसा के द्वारा साधा जाये, यह संगत नहीं होगा। अहिंसा अपने विकास के लिए कभी हिंसा का सहारा नहीं चाहती। हिंसा से ही उसे लोहा लेना है और उसके लिए वह हिंसा का ही सहारा खोजे, यह तो उसके ही निष्प्रभ होने का मार्ग वन जाता है।

मांसाहार का वर्जन व्यवहार्य

मांसाहार से शाकाहार पर आये मनुष्य को अनगिन शताब्दियां हुई होंगी, पर, निरामिषता का विकास अब तक बहुत स्वल्प ही हो पाया है। आटे में नमक भर लोग ही इसे अपना पाये हैं, साढ़े तीन अरब में लगभग एक करोड़। भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में भी निरामिष-भोजियों की संख्या नगण्य जैसी है। थोड़ा भी हो, पर, अहिंसा और सात्त्विकता की दिशा में मानव-सभ्यता का यह निरुपम विकास है। मनुष्य जव निरामिष-भोजी रहकर भी सुख से जी सकता है, तब वह अपने भोजन भर के लिए पशु-पक्षियों का वध करते रहने की बात सोचे ही क्यों? यह निरामिषता का विचार-पक्ष है। अहिंसा का यह उन्मेष आगे ही वढ़ना चाहिए। पर, इस दिशा में अपेक्षित प्रयत्न अभी किसी ओर से नहीं हो रहा है। जिस स्थिति तक निरामिषता पहुंची हुई है, उसे भी पीछे ढकेलने के प्रयत्न अनेक दिशाओं से हो रहे हैं। तर्क है, सारा विश्व यदि निरामिष-भोजी वन जाये, तो खाये क्या? क्या अरवों लोगों के मांसाहार की पूर्ति अन्नाहार कर देगा? यह एक भ्रामक तर्क है। इस आधार पर मनुष्य सोचता रहता, तो कोई भी विकास वह कर ही नहीं पाता। एक-एक आदमी आज अनेक कार रख रहा है। विश्व के सभी मनुष्य कारें रखने लगेंगे तो वे समायेंगी कहां? यह सोचकर क्या मनुष्य आज ही कारों का वनाना वन्द कर देगा? निरा-मिषता एक आदर्श है। वह आगे वढ़े। जो-जो कठिनाइयां आयेंगी, मनुष्य उनसे निपटेगा। कव सारा विश्व निरामिष-भोजी वनेगा और कव कठि-नाइयां आयेंगी? निराधार कल्पनाओं को सामने लाकर किसी आदर्श

को तिरोहित करना; श्लाघ्य नहीं है।

निरामिषता की ओर

मांसाहार का परिहार किसी कानून या लड़ाई-झगड़े का प्रश्न नहीं है। यह तो विचार-परिवर्तन के द्वारा शनैः-शनैः आगे बढ़ने का कार्य है। मांसाहार की वृद्धि को सोचकर बहुत लोग व्यग्र दिखलाई देते हैं। उनकी धारणा है, किसी समय सारा देश निरामिष-भोजी ही था। धीरे-धीरे वह आमिष-भोजी बनता गया है तथा अब द्रुत गति से वैसा बन रहा है। यह चिन्तन यथार्थ नहीं लगता। काल की असीम श्रृंखला में कभी समग्र देश वैसा रहा, पर, इतिहास और शास्त्रीय पुराणों की जहां तक पहुंच है, उनसे तो यही प्रकट होता है कि मनुष्य मुख्यतः मांसाहार से निरामिषता की ओर ही बढ़ता आ रहा है। आज भी कुछ निरामिष-भोजी आमिष-भोजी बन रहे हैं, तो भारत में और बाहर अनेक आमिष-भोजी निरामिष-भोजी भी बन रहे हैं। बहुत से शाकाहारी संगठन इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। पश्चिम में भी मांसाहार-परिहार का कार्य पर्याप्त रूप से आगे बढ़ रहा है।

अणु-युद्ध या निःशस्त्रीकरण ?

अणुबम और उद्जन बम के आविष्कार से हिंसा को एक अपूर्व बल मिल गया है। यह सच है कि मानव के दिल और दिमाग में अहिंसा की जड़ें गहरी हैं; अतः वह बल फूट नहीं पाया है। यदि वह खुलकर फूट पाया, तो अनगिन सहस्राब्दियों और लक्षाब्दियों में विकसित मानव-सभ्यता एक साथ पुनः गुहा-युद्ध तक पहुंच जायेगी, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। आज अनेक राष्ट्रों के पास अणुबम व उद्जन बम इतने सुसज्जित हैं कि आदेश के साथ चन्द सैकिण्डों में राकेट उन्हें लेकर आकाश में आ सकेंगे और चन्द मिनटों में वे विश्व के किसी भाग में जाकर उनका विस्फोट कर सकेंगे। अहिंसा ने अणु-युद्ध की प्रलय-लीला को अब तक थाम रखा है। आशा है, सुदीर्घ भविष्य तक वह उसे थामे रख सकेगी। हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व का अन्तिम परिणाम अब इसी बात पर खड़ा रह जाता है कि भविष्य में अणु-युद्ध क्रियान्वित होता है या निःशस्त्रीकरण ?

दुर्बलता का नाम सिद्धान्त नहीं

भारत अणुबम न बनाने की नीति पर अभी चल रहा है। क्या इसे अहिंसा का नूतन आयाम माना जा सकता है? नहीं, यह तो नीति से भी बढ़कर स्थिति का प्रश्न है। भारत अभी इस स्थिति में है ही नहीं कि अणु-बम और उद्‌जन बम बनाने का आर्थिक भार वह उठा सके। दुर्बलता का नाम सिद्धान्त नहीं होता। भारत अणु-आयुधों के अतिरिक्त सभी आयुधों से स्वयं को सज्ज कर रहा है। किसी भी आक्रान्ता का सशस्त्र मुकाबला किया जा सके, यह अपना ध्येय बनाकर चलता है। इस स्थिति में क्या यह भी कोई सिद्धान्त बनता है कि शत्रु चाहे अणुबम ही छोड़े, भारत तो उस पर तोप ही छोड़ेगा। शत्रु चाहे बन्दूक ही छोड़े, लाठी से ही उसका मुका-बला किया जायेगा। अहिंसा के नूतन आयाम की बात तो यह होती कि शत्रु अपनी कुछ भी तैयारी करे, हम शस्त्र-बल का सहारा नहीं लेंगे, केवल अपने आत्म-बल और अहिंसा-बल से ही उसका प्रतिकार करेंगे।

युद्धों का अनुपात कम हुआ

ज्यों-ज्यों मनुष्य का विवेक विकसित होता रहा है, जीवन-व्यवहार में हिंसा सीमित होती रही है। समाज में हिंसा का सर्वाधिक रौद्र पहलू युद्ध है। मनुष्य के विवेक ने उसे भी सीमित किया है। दूसरे देशों पर आक्रमण करना और अपना राज्य-विस्तार करना एक पराक्रमशीलता का उदाहरण माना जाता था। समाज का वही मूल्य अब साम्राज्य-लिप्सा की कुत्सा में बदल गया है। इस परिवर्तन के कारण विश्व में युद्धों का अनुपात बहुत घट गया है। आये दिन का युद्ध अब कादाचित्क हो गया है। विरल आक्रा-मक घटनाएं भी अब सीमा-विवाद, क्षेत्र-विवाद आदि मतभेदों पर आधा-रित रह गई हैं। अनाक्रमण का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी इतनी जड़ें जमा चुका है कि स्थितिवश आक्रान्ता होकर भी कोई राष्ट्र स्वयं को आक्रान्ता घोषित करने में लज्जा की अनुभूति करता है।

युद्धजन्य अपव्यय

आज प्रत्येक राष्ट्र स्वयं को शस्त्रास्त्रों से, सेना से सज्ज रख रहा है। मुख्यत: इसी आशंका से कि अकस्मात् कोई आक्रमण कर बैठे या आत्म-सम्मान को कुचल बैठे, तो हम क्या करें ?

प्रत्येक राष्ट्र इसी आशंका पर शस्त्रास्त्रों का ढेर लगा रहा है। अरबों का व्यय कर अणुबम और उद्जन बम बना रहा है। लाखों-लाखों की जल, नभ, भू-सेनाएं रख रहा है। भीमकाय जलपोत और द्रुतगामी वायुयान संजो रहा है। जितना धन और सामर्थ्य मनुष्य का युद्ध-साधन और युद्ध-शक्ति के संवर्धन में लगा और अब भी लग रहा है, उतना मनुष्य के रचनात्मक विकास में लगा होता, तो सम्भवत: अब तक मनुष्य चन्द्र-लोक तक ही नहीं ब्रह्माण्ड के किसी भी छोर तक पहुंच गया होता। अमेरिका जैसे धनाढ्य देश के वैज्ञानिक भी कहते हैं—धनाभाव के कारण हम अन्तरिक्ष-विज्ञान में बहुत कम प्रगति कर पा रहे हैं। असीम सैनिक व्यय ही इस धनाभाव का कारण हो सकता है।

यह सब तैयारी इसलिए कि कभी युद्ध हो जाये। युद्ध कभी न भी हो तो भी यह असीम व्यय-भार राष्ट्र के सर पर रहता ही है। कहा जाता है, अमेरिका की एक तिहाई हवाई शक्ति निरन्तर आकाश में ही रहती है ताकि वह किसी भी समय सुरक्षित रहे। युद्ध की आशंका कितनी गहरी होती है और मनुष्य को रात-दिन कितना सजग रहना पड़ता है, यह इसका एक उदाहरण है। कब शत्रु का आक्रमण हो, कब नीचे की हवाई शक्ति नष्ट हो जाये और कब अन्तरिक्षवर्ती हवाई सेना ही एकमात्र आधार रहे, यह सब भविष्य के गहन अन्धेरे में होता है। यह भी संभव है, कभी ऐसी स्थिति आये ही नहीं। पर, जब तक युद्ध की आशंका भी विद्यमान है, मनुष्य को यह सब करते ही रहना होगा। हिंसा से हिंसा का प्रतिकार जब तक मनुष्य को मान्य है, तब तक इसका कोई अन्य विकल्प सोचा ही नहीं जा सकता।

अहिंसात्मक प्रतिकार की दिशा

हिंसात्मक आक्रमण का अहिंसात्मक प्रतिकार भी हो सकता है, इस

विषय पर चिन्तन-जगत् में पर्याप्त विचार नहीं हुआ है। उसकी सर्वांगीण रूपरेखा व व्यवस्थित विधाएं बन नहीं पाई हैं। इस दिशा में चिन्तन आगे बढ़े, तो अनेक राजमार्ग सामने आ सकते हैं। महात्मा गांधी ने अमेरिका और इंगलैण्ड के निवासियों को परामर्श दिया था—"आप हिटलर को सब कुछ सौंप दें, सिवाय अपने दिल और दिमाग के।" इस परामर्श से अहिंसात्मक सुरक्षा का एक बहुत बड़ा सूत्र निकलता है—"देश स्वाधीनता के लिए एकमत हो। आगन्तुक प्रशासक के साथ सर्वांगीण असहकार हो। उत्पीड़न और यंत्रणा के सामने झुक न जाने की शक्ति हो। मृत्यु के आलिंगन में भी अभय हो, तो निश्चित है, बर्बर से बर्बर शासक को भी वह भूमि और वह प्रशासन छोड़कर लौट ही जाना होगा। भूमि किसी का अनुशासन नहीं मानती और न वह किसी के हाथों में जाती है। पारतंत्र्य तो वस्तुतः दिल और दिमाग का ही होता है तथा अनुशासन भी सदा उन पर ही लदता है। ऐक्य व आत्म-शक्ति का इतना विकास किसी देश में हो जाये, तो उसे कादाचित्क युद्ध की आशंका में सेना, शस्त्रास्त्र व सैनिक यानों का भार उठाए ही नहीं खड़ा रहना पड़ता।

भावनात्मक एकता की शक्यता

बड़ा देश है। विभिन्न स्वार्थ व विभिन्न विचारधाराएं हैं। सब या अधिकांश लोग इतने एकमत, इतने अभय कैसे रह सकते हैं, यह एक प्रश्न है। इतिहास बताता है, जब-जब देशों पर आक्रमण हुए हैं, उनमें भावनात्मक एकता बनी है। लड़ने और मरने का साहस बढ़ा है। शस्त्रास्त्रों की ओट में यह सब होता रहा है, निःशस्त्र स्थिति में वैसा नहीं हो सकता, इसका कोई कारण नहीं है। अन्तर इतना ही है, वह स्थिति चिर काल से जन-जन के संस्कारों में है और निःशस्त्रता की ओट में ऐसा हो, यह हम नये सिरे से सोचते हैं। देश और जाति के प्रश्न पर भावनात्मक एकता और आत्म-बलिदान की दृष्टि से दोनों ओर की स्थिति समान है।

अहिंसक सेना का विकास व उपयोग

भावनात्मक एकता के साथ-साथ एक निःशस्त्र सेना की बात सोचनी

चाहिए। एक राष्ट्रीय नीति का निर्धारण हो—हमें निःशस्त्र सेना का विकास कर सशस्त्र सेना का विसर्जन करना है। निर्धारित नीति के अनुसार सशस्त्र सेना के अनुरूप ही निःशस्त्र सेना का सूत्रपात किया जाये। उसे अहिंसात्मक प्रतिकार की शिक्षा दी जाये एवं उसके अनुरूप सक्षम बनाया जाये। मारने के बदले वह हंसते-हंसते मर जाने की क्षमता अर्जित कर ले। सैनिकों की संख्या क्रमशः सशस्त्र सैनिकों के समान ही हो जाये। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा के प्रतिकार में उसका उपयोग बढ़ता जाये। ज्यों-ज्यों वह सक्षम बनती जाये, सशस्त्र सेना का विसर्जन होता जाये। एक दिन देश की रक्षा का परिपूर्ण दायित्व उस पर ही आ जाये। सम्भव नहीं कि भारत जैसे देश की बीस लाख निःशस्त्र सेना को रौंद कर कोई राष्ट्र उस पर शासन करने का अमानवीय साहस करेगा। मान लें, बीस लाख लोगों को रौंदकर उसकी टैंकें आगे बढ़ गईं, सत्ता हथिया ली गई। क्या शेष रहे ५६ करोड़ लोगों का दिल और दिमाग भी वह विदेशी सत्ता हथिया सकेगी ? जहां विश्व-सभ्यता में आक्रमण मात्र को भी जघन्य और निंद्य मान लिया गया है, वहां कोई राष्ट्र इस प्रकार का कदम भी उठा सके, यह सोचा भी नहीं जा सकता।

सशस्त्र नीति में भी वे ही प्रश्न

असंभव को भी एक क्षण के लिए हम संभव मान लें। सशस्त्र सेना निःशस्त्र सेना को रौंद कर आगे बढ़ गई। देश की सत्ता उसने हथिया ली। देश परतंत्र हो गया। अब सोचना यह है कि क्या सशस्त्र सेना रख लेने मात्र से यह सब स्थितियां सर्वथा टल जाती हैं ? क्या भारत की सशस्त्र सेना को रौंद कर दूसरे किसी देश की सेना आगे नहीं बढ़ सकती ? देश की सत्ता वह नहीं हथिया सकती ? देश परतंत्र नहीं हो सकता ? दोनों ओर भी यदि देश के परतंत्र हो जाने की संभावना है, तो भी इसकी अधिकतम संभावना सशस्त्र-नीति में ही है। आज तक भी देश जितनी बार परतंत्र हुआ है, वह सशस्त्र-नीति में ही हुआ है। मुसलमानों का राज्य आया, अंग्रेजों का राज्य आया, तब क्या भारत की निःशस्त्र नीति थी ?

खाली हाथों मरने के लिए निःशस्त्र सेना में भर्ती कौन होगा ? यह

प्रश्न सही है, पर, सशस्त्र सेना में भी तो मरने की बात सोचकर ही लोग भर्ती होते हैं, अजर-अमर बने रहने की बात सोच कर नहीं? अस्तु, जो प्रश्न निःशस्त्र सेना के विषय में उठाये जा सकते हैं, वे सभी सशस्त्र सेना के विषय में भी उठाये जा सकते हैं। समाधान जितना निःशस्त्र स्थिति में है, उतना सशस्त्र स्थिति में नहीं।

हिंसात्मक शक्ति के विकास ने भी प्रस्तर-युग से अणु-युग तक पहुंचने में कितना समय लिया है। अहिंसात्मक प्रतिकार के विषय में हम यह क्यों चाहते हैं कि आज हमारे मन में उसकी कल्पना उठे और कल वह पूर्ण सशक्त होकर हमारी रक्षा करे। हम धैर्य से उसका विकास करें। इस कल्पना में न डूबें कि हमारा विश्वास निःशस्त्र प्रतिकार का हो गया। उसके पश्चात् हम सशस्त्र सेना रख ही कैसे सकते हैं? एक चिरन्तन व्यवस्था को विसर्जित करने में एवं नवीन को विकसित करने में समय तो लगता ही है। यह प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता कि कल ही किसी राष्ट्र ने भारत पर आक्रमण किया, तो वह उसका सशस्त्र प्रतिकार करेगा या निःशस्त्र प्रतिकार? पाकिस्तान व चीन के साथ हुए युद्ध के अवसर पर भी यह प्रश्न उठाया गया था कि अहिंसात्मक प्रतिकार के हामी इस समय क्या कहते हैं? अहिंसात्मक प्रतिकार की मान्यता में और वर्तमान सशस्त्र युद्ध में कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। तब तक देश अपनी प्राक्कतन स्थिति पर ही चलेगा, जब तक अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए स्वयं को सशक्त न बना ले। पुराना कपड़ा नापसन्द होने पर भी तब तक तो पहना ही जायेगा, जब तक नया तैयार होकर हाथ में न आ जाये।

भारत पहल करे

इस अहिंसात्मक प्रतिकार की पहल भारत से हो, यह उसके गौरव के अनुरूप होगा। स्वाधीनता के लिए जहां दूसरे देशों में रक्त-क्रान्तियां हुईं, वहां भारत ने उसे अहिंसात्मक नीति से साधा। आज दूसरे देश अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए जहां आणविक अस्त्रों की घुड़-दौड़ में हैं, वहां भारत यदि निःशस्त्र प्रतिकार की बात स्वीकार करे तो विश्व के इतिहास में कितनी महत्त्वपूर्ण बात हो सकती है। जिस देश ने अहिंसा का एक अपूर्व

इतिहास गढ़ा है, वह दूसरा भी गढ़ सकता है। ऐसा नहीं कि गांधीजी चले गए, तो उनके साथ भारत की अहिंसा-नीति भी चली गई। अपेक्षा, गांधीजी जैसा आत्म-विश्वास जागृत करने की है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पूर्व क्या लोग उनके असहयोग और सत्याग्रह को भी अव्यावहारिक व भावुकता की उपज नहीं मानते थे ?

नैतिक बल से प्राप्ति; नैतिक बल से सुरक्षा

सशस्त्र शक्ति में भारत आज अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत पीछे है। हाल ही के छोटे से दो युद्ध भी दूसरों से शस्त्रास्त्र ले लेकर उसने लड़े हैं। कहा जाता है, अब वह इस दिशा में द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दूसरे देश उससे भी द्रुत गति से इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। दूसरे देशों की सैनिक प्रगति रुक तो नहीं गई है कि भारत कुछ दिनों में उनके समकक्ष हो जायेगा। तात्पर्य की बात तो यह है कि आज वह दूसरे देशों से जितना पीछे है, भविष्य में भी उतना ही पीछे बना रहे।

भारतवर्ष न तो शस्त्र-बल से स्वाधीन हुआ है और न उसकी स्वाधीनता शस्त्र-बल पर टिकी हुई भी है। पता नहीं, क्यों फिर उसे शस्त्र-बल में इतना विश्वास हो रहा है। नैतिक बल पर मिली स्वाधीनता का संरक्षण नैतिक बल पर ही सोचा जाये, यह स्वयं भारत के एवं विश्व के हित की बात है।

युद्ध-हेतुक अपव्यय से तथा आणविक अस्त्रों की विभीषिका से विश्व को उबारने का एकमात्र उपाय अहिंसात्मक प्रतिकार का उदय और विकास ही है।

□ □

: ६ :

जीवन, परिस्थितियां और संयम

असन्तुलित उपदेश

भारतीय मान्यता में जीवन के दो पक्ष रहे हैं—लौकिक और लोकोत्तर। भारतीय जन-जीवन की बागडोर मुख्यतः साधु-सन्तों एवं ऋषि-मुनियों के हाथों में रही है; वे ही जीवनगत मूल्यों के निर्णायक रहे हैं। उन्होंने लोकोत्तर पक्ष की ही ओर मनुष्य को अग्रसर किया, लौकिक जीवन की असन्तुलित उपेक्षा की। उन्होंने उसे सराय का बसेरा कहा। माता, पिता, भाई, बन्धुओं के सम्बन्ध को स्वार्थ-पूर्ण कहा। स्त्री को मायाविनी बताया। धन और जीवन को नश्वर बताया। परिवार, समाज और देश की ममता को बन्धन-हेतु बताया। अपेक्षा-विशेष से यह सब सत्य भी है, पर, सामाजिक जीवन के लिए यह एकान्तिक उपदेश अधिक हितकर प्रमाणित नहीं हुआ। संन्यासाश्रम में जाकर व्यक्ति पारिवारिक भरण-पोषण के व अन्य अनेक सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो जाता है, ऐसी मान्यता व परम्परा सदा से रही है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति पारिवारिक व सामाजिक दायित्व से मुक्त नहीं हो जाता। समाज के प्रति, देश के प्रति, परिवार के प्रति उसके अनेक अनिवार्य दायित्व होते हैं। किसी-न-किसी रूप में वह इन सब का ऋणी होता है। 'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' मानकर वह उससे उऋण नहीं हो जाता।

लोकोत्तर पक्ष का एकांगी उपदेश कर्त्तव्य और पुरुषार्थ को न्यून करने वाला सिद्ध हुआ। व्यक्ति इस जीवन को नरक मानने लगा। अगले जीवन

में स्वर्ग, मोक्ष या ब्रह्म को पा जाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य बन गया। वर्तमान जीवन के प्रति वह अत्यन्त उदासीन हो गया। उस वर्तमान जीवन को कैसे सुखी एवं शालीन बनाया जा सकता है; यह चिन्ता ही उसके मन से निकल गई। अध्यात्म-विद्या प्रमुख हो गई। अन्य विद्याएं अविद्याएं मान ली गईं। भव-बन्धन की हेतुभूत मानी जाकर वे अनपेक्षित रूप से उपेक्षित होने लगीं। केवल आत्म-विद्या से पेट तो नहीं भर सकता था। भूखमरी, गरीबी, रोग आदि बढ़ने लगे। अभाव की पीड़ा में अध्यात्म भी क्या विकसित होता? मान्यता बनी—"भूखे भजन न होहि गोपाला"। अभाव में अनैतिकता बढ़ी। बढ़े, यह स्वाभाविक भी था। समाज में प्रामाणिकता घटने लगी। **बुभूक्षितः किं न करोति पापम्** की उक्ति जन-जीवन में चरितार्थ होने लगी। तात्पर्य हुआ, अध्यात्म के असन्तुलित आचरण से समाज को 'न माया मिली, न राम'।

आध्यात्मिक श्रेष्ठता तो होती ?

भारत ने संयम और अध्यात्म को अपनाया; अतः वह आर्थिक व अन्य भौतिक प्रगति में अग्रणी कैसे रह पाता, यह तर्क समझ में आ सकती है, पर, अध्यात्म को उसने अपनाया, तो वहां के जन-जीवन में आध्यात्मिक व नैतिक आदर्श तो प्रखर रूप में मिलने चाहिएं, जिन्हें देखकर दूसरे देश ईर्ष्या करें। जितना अध्यात्म यहाँ बरसा, उसे देखते हुए तो यहाँ कोई अनूठी और अनुपम स्थिति अब तक बननी चाहिए थी। मानवीय सद्‌गुण चरम सीमा पर उपलब्ध होने चाहिए थे। पर, ऐसा कुछ फलित हुआ नहीं। प्रत्युत नैतिक व अन्य मानवीय सद्‌गुणों के विकास में भी वह अन्य देशों की अपेक्षा अल्प विकसित ही प्रमाणित हो रहा है।

सन्तुलन रहा होता तो

संयम और अध्यात्म का लौकिक जीवन के साथ सन्तुलन रहा होता, तो भारत आर्थिक व अन्य भौतिक प्रगति में तो आज के विकसित कहे जाने वाले राष्ट्रों के बराबर होता ही, साथ-साथ नैतिक व चारित्रिक सद्‌गुणों से वह उन देशों में अग्रणी रहा होता। शान्ति, समन्वय, मैत्री, न्याय और

नीति का वह मूर्तिमान् उदाहरण बना होता। यहां का जीवन-क्रम दूसरों का जीवन-दर्शन बन गया होता।

धर्म का अनुशासन मिटा

युग बीत गये। परिस्थितियां बदल गईं। लौकिक और लोकोत्तर पक्ष के असन्तुलन का परिणाम सामने आ गया। धर्मोपदेशक फिर भी बदले नहीं हैं। वे उसी भाव-भाषा में धर्म को व्यक्त करते हैं। संयम की उन्हीं जीर्ण-शीर्ण सीमाओं और परिभाषाओं को वे अखण्ड रखना चाहते हैं। उनका मानना है, वे देश-काल के साथ बदल गईं, तो समग्र धर्म ही निर्मूल हो जायेगा। वस्तुस्थिति यह है कि धर्म को बचाने का यह जड़ आग्रह ही धर्म को नष्ट किये जा रहा है। समाज आज धर्म के अंकुश की अवगणना कर चुका है। धर्म के न चाहते हुए भी वह अपनी युगीन प्रगति कर रहा है। धर्म का अनुशासन तो इस प्रकार मिट ही चुका है, अब उसका अस्तित्व मिटाया जा रहा है।

प्रगति के विरोध में धर्म

भारत के ही नहीं विश्व भर के धर्म इस दुर्बलता के शिकार हैं। प्रगति, विकास या मान्यता की कोई नवीन बात आती है, धर्म को उसके विरोध में खड़ा किया ही जाता है। तथ्य उस विरोध के बावजूद भी आगे बढ़ जाता है और बेचारा धर्म पिछड़ेपन का विज्ञापन करके चुप हो जाता है।

समानता और सामाजिक प्रगति के सन्दर्भ से अस्पृश्यता-निवारण का विचार उठा। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अस्पृश्यों को समान अधिकार दे देने की बात आई। धार्मिक क्षेत्र से ही इसका तीव्र विरोध हुआ। शास्त्रों की दुहाइयां दी जाने लगीं। पर, विचार कब रुका। वह आगे बढ़ता ही जा रहा है। समानता के संवैधानिक अधिकार आज सुगमता से चरितार्थ हो रहे हैं। धर्म समानता का ही पोषक है और उसे समानता के प्रश्न पर ही विरोध में खड़ा कर दिया गया। यह धर्म-गुरुओं की रूढ़ि-परायणता या संकीर्ण दृष्टि का परिचायक नहीं तो क्या है? ऐसा करके क्या धर्म को

जन-जन की दृष्टि में गौरवहीन नहीं किया गया है ?

गेलेलियो को अपना भौगोलिक तथ्य व्यक्त करने पर शासक धर्म-गुरुओं द्वारा प्राण-दण्ड का भय बताया गया; क्योंकि वह तथ्य बाइबिल द्वारा सम्मत नहीं था। गेलेलियो चुप रह गया, पर, वह विचार कितने दिन रोका जा सका। बाइबिल व विश्व के अन्य समस्त धर्म-शास्त्रों का विरोध होते हुए भी क्या भूगोल-विषयक आधुनिक मान्यता सर्वसम्मत-सी नहीं बनती जा रही है ? चन्द्र-यात्रा की सफलता को देखकर क्या धर्म-गुरु ठिठक नहीं रहे हैं ?

उपदेश सामाजिकता से न टकरायें

संयम और अपरिग्रह के आदर्श सर्वोत्तम हैं। पर, सामाजिक और सामुदायिक उपदेश में तो इनका भी सन्तुलित रूप ही होना चाहिए। 'तुम्हें खाने को दो रोटी चाहिए। तन ढांकने को दो गज कपड़ा चाहिए। क्यों तुम व्यापार, कृषि और उद्योग का आयास उठाते हो ? यह सब यहीं रह जाने वाला है। किसका देश, किसका समाज ? सब स्वार्थ की दुनिया है।' यह उपदेश तनिक भी व्यावहारिक नहीं है। इसमें सामाजिक विकास व राष्ट्रीय उत्थान की अवगणना है। जब अधिकांश लोग झोंपड़ियों में रहते थे, शरीर ढांकने की सभ्यता विकसित नहीं हुई थी, तब यह उपदेश व्यावहारिक भी रहा होगा। आज मनुष्य का औसतन अनुपात बहुत ऊपर जा चुका है। एक साधारण व्यक्ति को भी सामाजिक जीवन जीने के लिए दो रोटी और दो गज कपड़े के अतिरिक्त बहुत कुछ अपेक्षित होता है। सामुदायिक विकास की योजनाएं देश में क्रियान्वित हो रही हैं। उत्पादन और उपज बढ़ाने के लिए अरबों रुपये व्यय किये जा रहे हैं. तब यह अकर्मण्यता व कर्तव्य-हीनता का-सा उपदेश सामाजिक व राष्ट्रीय गतिविधि से टकरा जाने वाला सिद्ध होता है।

सामंजस्य

प्रश्न होता है, क्या आध्यात्मिक लोग संयम और अपरिग्रह का उपदेश छोड़ दें। उपदेश छोड़ने की अपेक्षा नहीं। उपदेश को सामाजिक व

सन्तुलित बनाने की अपेक्षा है। कृषि में, वाणिज्य में, उद्योग में अप्रामाणिकता न आये, संयम और अपरिग्रह का यही उपदेश व्यवहार्य हो सकता है। सामाजिक व्यक्ति अर्थ-मुक्त अर्थात् अपरिग्रही नहीं हो सकता। वह अनैतिक व शोषण-प्रधान उपक्रमों से अर्थार्जन न करे व समुचित प्रकार से होने वाले सीमित अर्जन में ही सन्तोष करे, यही उसके लिए अपरिग्रह व संयम की सन्तुलित साधना है। देश व समाज के सामुदायिक हित भी उससे टकराते नहीं, प्रत्युत पुष्ट होते हैं। लौकिक और लोकोत्तर पक्ष का भी इसमें सामंजस्य रह जाता है।

चर्खे और खादी का विचार

अहिंसा और अशोषण की पृष्ठभूमि पर ही चर्खे और ख़ादी का विचार आया। वस्त्र-विशेष के साधन व निष्पादन में मनुष्य का यहाँ तक सीमित हो जाना सचमुच ही संयम की दिशा है। इसमें प्रश्न इतना ही है कि मिलों एवं सम्बन्धित उद्योगों से हटकर समग्र देश चर्खे पर जी सकता भी है क्या? देश का अर्थतंत्र उस पर टिक सकता भी है क्या? आज जैसे वह अनाज के लिए दर-दर का भिखारी हो रहा है, कल वस्त्र के लिए भी वैसा नहीं हो जायेगा क्या?

शोषण का अंकुर चर्खे या मिल में नहीं, वह तो व्यक्ति के मन में है। मिल में भी व्यक्ति शोषण-विहीन स्थिति गढ़ सकता है। संग्रह का भी मुख्य सम्बन्ध आसक्ति से है। व्यक्तिगत व्यवस्था से समाजीकरण की ओर जैसे-जैसे व्यक्ति प्रगति करेगा, आसक्ति न्यून होती जायेगी, यह एक सहज स्थिति है। मनुष्य सदा से ही कला व सुविधा की दिशा में विकास कर रहा है। झोंपड़ियों से वह गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तक पहुंच गया। बैलगाड़ी से वह रेलगाड़ी तक तथा रेलगाड़ी से रॉकेट तक वह पहुंच गया। चर्खे से वह सहस्र-सहस्र लूमों वाली मिल तक पहुंच गया। दूसरे शब्दों में वह वल्कल से टेरीलीन व टेरीकाटन तक पहुंच गया। संयम और सादगी के नाम पर पुनः मनुष्य को झोंपड़ी, बैलगाड़ी, चर्खे व वल्कल तक पहुंचाने की बात आध्यात्मिक कितनी ही हो, वह व्यावहारिकता व शक्यता से नितान्त परे की है।

: १० :

साधना : क्रमिक विकास व बुद्धि की परख पर

भारतवर्ष में उलटे चलने को प्रगति कहा जाता है। यहां विकास इसी बात में देखा जाता है कि इस विषय में हमारे प्राचीन ग्रन्थों में क्या लिखा है, हमारे पुरखाओं ने क्या कहा है। साधना भी इसी क्रम से देखी व आंकी जा रही है। उसका उत्कृष्ट रूप पाने के लिए लोग सहस्रों वर्ष पीछे तक जाते हैं। स्थिति यह है कि अन्यान्य विषयों की तरह साधना का रूप भी क्रमिक रूप से परिमार्जित, परिष्कृत व विकसित होता रहा है। एक युग था, जब कांटे और कीलों पर शयन करना, वृक्ष पर औंधे लटकना, अग्नि-ताप लेना, आठों पहर जल में खड़े रहना ही साधना का उच्चतम स्वरूप माना जाता था। क्रमशः चिन्तन विकसित हुआ, तो यह सब अज्ञान कष्ट लगने लगा। तप और ध्यान साधना के उत्कृष्ट रूप माने जाने लगे। धीरे-धीरे तप भी स्थूल साधना रह गया। ध्यान, आत्म-चिन्तन आदि को सूक्ष्म व अन्तरंग तप माना गया। यौगिक क्रियाओं का उदय हुआ। हठ योग और सिद्धियों का प्राबल्य बना। वहां भी स्थूल और सूक्ष्म का प्रश्न उठा। सिद्धियां नगण्य और बाधक मानी गईं। हठ योग सामान्य रह गया। आत्म-विकास की प्रक्रिया प्रधान बनी। ज्ञानयोग से कर्मयोग की ओर जन-मानस मुड़ा। निवृत्तिमूलक अरण्य-साधना से भी अधिक कर्मक्षेत्र की निष्काम साधना को मान्यता मिली। पर-हित में ही आत्म-हित देखा गया। **योगः कर्मसु कौशलम्** का उद्घोष सहसा मुखरित हो चला।

साधना के क्रमिक विकास की यह एक मोटी-मोटी झलक है। हमें यह मानकर भी नहीं बैठ जाना है कि इसमें जो अन्तिम है, वही वास्तव में अन्तिम है और उत्कृष्ट है। प्रत्येक नये विकास में पिछले विकास पृष्ठभूमि बनते हैं। हमें यदि आज देश-काल के अनुरूप साधना का कोई नूतन स्वरूप गढ़ना है, तो चिरकाल से चले आ रहे साधना के क्रमिक उन्मेष हमारे मार्ग के नक्षत्र बन सकते हैं, पर, मंजिल नहीं।

ध्यान और मनोनिरोध

प्राचीन साधना-पद्धति में ध्यान का स्थान सर्वोपरि रहा है। ध्यान का तात्पर्य है, मन को अनेक से एक में और एक से शून्य में लीन कर देना। यह एक दुरूह क्रिया है। इसी क्रिया में जीवन को खपा देने वाले भी कितने लोग कितना-सा रास्ता तय कर पाते हैं, यह एक प्रश्न है। जो यह मानते हैं कि हम तो घण्टों निर्विकल्प समाधि में बैठे रहते हैं, वह केवल उनके मन का भ्रम ही हो सकता है। नाक के अग्र भाग पर, श्वास पर या अन्य किसी भौतिक आलम्बन पर टिका मन भी व्याप्रियमाण तो रहता ही है। योग-निरोध रूप शैलेषी समाधि तो पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल जितनी ही अधिक-से-अधिक मानी गई है। वह भी वीतराग जीवन के अन्तिम क्षणों में सिद्ध होती है। शेष ध्यान की प्रक्रिया तो मुख्यतः चिन्तन-परक ही है। जैन परम्परा के अनुसार पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी, एकत्व-वितर्क-अविचारी, सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती, समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति; ये चार ध्यान प्रक्रिया के क्रमिक सोपान हैं। इनमें साधक का चिन्तन क्रमशः सिमटता जाता है। ध्यान प्रक्रिया के लगभग ऐसे ही चार भेद बौद्ध परम्परा में बताये गये हैं। जिसके अनुसार प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता; ये पांच अंग हैं। ध्येय (वस्तु) में चित्त का दृढ़ प्रवेश वितर्क कहलाता है। यह मन को ध्येय से बाहर नहीं जाने देने वाली मनोवृत्ति है। प्रीति का अर्थ है—मानसिक आनन्द। काम, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य, विचिकित्सा; इन पांच नीवरणों को अपने में नष्ट हुए देख प्रमोद उत्पन्न होता है और प्रमोद से प्रीति उत्पन्न होती है। सुख का तात्पर्य है—कायिक सौख्य; प्रीति से शरीर शान्त हो जाता है और

इससे सुख उत्पन्न होता है। एकाग्रता का अर्थ है—समाधि। इस प्रकार काम-रहितता, अकुशल धर्मों से विरहितता, सवितर्क, सविचार और विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख से प्रथम ध्यान प्राप्त होता है।

द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार; इन दो अंगों का अभाव होता है। इनके अभाव से आभ्यन्तरिक प्रसाद व चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। द्वितीय ध्यान में श्रद्धा की प्रवलता तथा प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्रधानता वनी रहती है।

तृतीय ध्यान में तीसरे अंग प्रीति का भी अभाव होता है। इसमें सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है। सुख की भावना साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न नहीं करती है। चित्त में विशेष शान्ति तथा समाधान का उदय होता है।

चतुर्थ ध्यान में चतुर्थ अंग का भी अभाव होता है। एकाग्रता के साथ उपेक्षा और स्मृति; ये दो मनोवृत्तियां होती हैं। इसमें शारीरिक सुख-दुःख का सर्वथा त्याग तथा राग-द्वेष से विरहितता होती है। इस सर्वोत्तम ध्यान में सुख-दुःख के त्याग से व सौमनस्य- दौर्मनस्य के अस्त हो जाने पर चित्त सर्वथा निर्मल तथा विशुद्ध वन जाता है।

उनके यहां अन्य चार भेद भी मान लिये गये हैं—१. कायानुपश्यी, २. वेदनानुपश्यी, ३. चित्तानुपश्यी, ४. धर्मानुपश्यी। कायानुपश्यी में काय-विषयक, वेदनानुपश्यी में वेदना-विषयक चिन्तन साधक करता है। इसी प्रकार अन्य दो भेदों में भी। गीताकार कहते हैं—मनुष्य क्षण भर के लिए भी कर्म-शून्य नहीं रहता। अर्थात् उसके मन, वचन व काया का सूक्ष्म व्यापार चलता ही रहता है। वह सूक्ष्म व्यापार स्थिर होता भी है तो किसके, कव और कितने समय के लिए यह वताया ही जा चुका है। इस स्थिति में मनोनिरोध के इस अशक्य अनुष्ठान में स्वयं को खपा देने की सार्थकता एक प्रश्न ही रह जाती है।

ध्यान का अग्रिम चरण स्वाध्याय

क्या इससे अच्छा यह नहीं होगा कि ध्यान का अग्रिम चरण स्वाध्याय को मान लिया जाये। ध्यान से हम मन को किसी खूंटी के साथ वांधने का

प्रयत्न करते हैं। वह छूटकर भागना चाहता है। हम फिर पकड़कर उसे बांधते हैं। सात्त्विक, सरस और ज्ञानवर्धक साहित्य की स्वाध्याय में मन सहजतया ही जुट जाता है, लीन होता है और कभी-कभी तो वह उसमें विलीन-सा ही हो जाता है। ज्ञान बढ़ता है। चिन्तन के नये-नये आयाम खुलते हैं। साधक सत्य-प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ता है। विचारों से वृत्तियों का परिमार्जन होता है। क्या यह सब ध्यान से सहज संभव है ?

कहा जा सकता है, स्वाध्याय में मन प्रवहमान रहता है और ध्यान में स्थिर। पदार्थ-सम्बद्ध या क्रिया-सम्बद्ध मन मूलतः तो स्थिर है ही नहीं। मान भी लें, वह स्थिर है; श्वास पर या किसी बिन्दु विशेष पर टिक भी गया तो उससे फलित क्या निष्पन्न हुआ ? मन का टिकना ही बड़ी बात है, तो वह किसी वाद्य या घड़ी के शब्द पर, किसी सुन्दरी के रूप में, किसी फूल की सुवास पर और अधिक टिक सकता है। स्वाध्याय में मन प्रवहमान भी रहा, तो भी वह रहा तो एक सात्त्विक व संयम-प्रधान आलम्बन पर ही न ?

ध्यान की पृष्ठभूमि में युगीन अन्तर

वह युग था, जब साधकों के सामने केवल आत्म-चिन्ता का ही ध्येय था। गिरि-कन्दराएं ही उनके तपोवन थीं। लेखन के प्रकार व लेखन के साधन विकसित नहीं हुए थे। स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ भी उन्हें कहां से मिलते ? साधकों के पास बहुत समय खाली रहता था। उस समय ध्यान ही उनकी साधना का सर्वोपरि आधार बन सकता था। आज तो जन-कल्याण में आत्म-कल्याण समाहित कर लिया गया है। अरण्यवासी से भी ऊंचा स्थान समाज रूप पंक में निर्लिप्त पंकज की तरह रहने वाले साधकों का बन गया है। स्वाध्याय-ग्रन्थों की प्रचुर सुलभता है। साहित्य-प्रणयन का द्वार खुला है। अन्य अनेक साधना-प्रवृत्तियां विकसित हुई हैं। नये चिन्तन व नये उन्मेष के लिए युग की उर्वरता है। उस स्थिति में साधक गतिशील मन को अगति के स्तम्भ पर अटकाने का निष्फल प्रयत्न अहर्निश करता रहे, यह कहां तक बुद्धिगम्य हो सकता है ?

आज की उपयोगिता

ध्यान की उपयोगिया है ही नहीं, यह सोचना भी संगत नहीं होगा। मानसिक और बौद्धिक विश्रान्ति के लिए ध्यान एक अनूठा आलम्बन है। चलते आदमी के लिए बैठ जाना, बैठे आदमी के लिए सो जाना एक विश्राम है। पर, चलता आदमी सुदीर्घ काल तक बैठा ही रहे या सोया ही रहे, तो वह बैठना और सोना भी ऊब पैदा करेगा। यही स्थिति ध्यान की है। सीमित ध्यान स्फूर्ति देता है और प्रलम्ब ध्यान थकान देता है। अभ्यास बढ़ा-बढ़ा कर उसे प्रलम्ब करते रहने में कोई निरुपम तात्पर्य प्रतीत नहीं होता। स्वाध्याय की क्लान्ति ध्यान दूर करे और ध्यान की क्लान्ति स्वाध्याय दूर करे, तो साधक को मंजिल की ओर बढ़ाने में एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

आसन व प्राणायाम

आसन, प्राणायाम आदि स्वास्थ्य के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी हैं। पर, योग-विषयक ग्रन्थों में उनके जितने लाभ बखाने गये हैं व सिद्धियों के वर्णन किये गये हैं, उनमें बहुत कुछ अतिशयोक्तियां भी स्पष्ट प्रतीत होती हैं। मोक्ष-सिद्धि के लिए वज्रोलि आदि अश्लाघ्य अनुष्ठानों का विधि-विधान भी मिलता है। अपेक्षा है, योग-विषयक मान्यताओं को नये सिरे से प्रयोग में लाया जाये, परखा जाये और उन्हें आज की भाव-भाषा में उतारा जाये। यथार्थ और अयथार्थ की छंटनी में आज का मनुष्य अधिक सक्षम है।

विदेशों में भी योगाभ्यास का प्रचलन बढ़ रहा है। नये-नये आयाम भी खोले जा रहे हैं। साहित्य भी प्रचुर मात्रा में सामने आ रहा है। दोष की बात यही है कि विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि का साहित्य न आकर वहां से भी अतिरंजित और अतिशयोक्ति-प्रधान साहित्य अधिक आ रहा है। अंगुली के स्पर्श मात्र से शरीर के किसी भी अवयव की शल्य-क्रिया कर देने व घाव को तत्काल भर देने तक की बातें लिखी जाती हैं। ऐसी सिद्धियों का दूसरा पक्ष जागरूकता से न पढ़े, तो सहसा व्यक्ति भ्रम में पड़ता है।

अस्तु, विदेश में हो या भारत में, योग को यथार्थ पर खड़ा करने का ही हमारा प्रयत्न रहना चाहिए। विज्ञान के क्षेत्र में कहां ऐसी अतिशयोक्ति-पूर्ण व प्रचारात्मक बातें उठाई जाती हैं ? वही दृष्टि प्रस्तुत विषय पर अपनाई जानी चाहिए।

भोजन-विषयक मान्यताएं

साधक का भोजन क्या हो, इस विषय में भी अनेक प्राचीन मान्यताएं प्रचलित हैं। सात्त्विक और असात्त्विक पदार्थों की व्यवस्थित सूचियां हैं। वर्तमान युग में वैज्ञानिक गतिविधियों से प्रत्येक पदार्थ के गुण-दोषों पर सूक्ष्मता से छानबीन हुई है। प्राचीन मान्यताओं को नूतन आलोक में भी परख लेना होगा। यह नहीं कि चीनी को जहर पहले कहते रहे हैं, तो अब भी वैसे ही कहते रहें।

साधना-केन्द्र प्रयोगशालाएं बनें

भारत में साधना-केन्द्रों की बहुलता है और नये भी बन रहे हैं। उनकी विशेष उपयोगिता इस बात में नहीं कि व्यक्ति एकान्तवासी व अकर्मण्य होकर जीवन भर वहीं बैठा रहे। साधना-केन्द्र तो साधना-विषयक चिन्तन, मनन व प्रयोग-परीक्षण के लिए होने चाहिएं। वहां से साधना का दर्शन प्रसूत होना चाहिए। साधक वहां से अभिज्ञ और अभ्यस्त होकर पारिवारिक व सामाजिक जीवन में साधना का जीवन जी सके। साधना की कसौटी तो सामुदायिक जीवन ही है। हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य आदि मुख्यत: सामुदायिक जीवन की उपज ही तो हैं। केवल एक के लिए ईर्ष्या, द्रोह, दंभ भी क्या होंगे तथा मैत्री, सौहार्द व कारुण्य आदि भी क्या होंगे? उसके लिए सत्य भी क्या होगा, असत्य भी क्या होगा? सामुदायिक जीवन ही बता सकता है, साधक में क्षमा, धैर्य, सहिष्णुता आदि गुणों का कितना विकास हुआ है? वह मान और अपमान में, शत्रु और मित्र में कितना सम रह सकता है? कर्मशील होते भी उसका कर्म कितना पवित्र है, कितना परोपकारक है?

□ □

: ११ :

भारतीय परिवार-प्रणाली

भारतीय परिवार-प्रणाली सेवा, समर्पण और विनयशीलता पर आधारित रही है। पुत्र पिता के प्रति, पत्नी पति के प्रति, छोटा भाई बड़े भाई के प्रति समर्पित और सेवाशील होकर रहे। विनय, सेवा आदि गुणों को धर्म, नीति, समाज सभी ने गरिमा दी। फलतः व्यक्ति-व्यक्ति में इन गुणों का विकास हुआ। पुत्रों के सामने श्रवणकुमार का आदर्श बना। पत्नियों के सामने सीता और सावित्री का आदर्श बना। छोटे भाइयों के सामने लक्ष्मण और भरत का आदर्श बना। पारिवारिक व्यवस्था अनगिन शताब्दियों तक सुखपूर्वक चलती रही। पारस्परिक कलह, वैमनस्य आदि जीवन पर झंझावात होकर नहीं आ सके। पारिवारिक कलह के मूल में मुख्यतः विचार-भेद, रुचि-भेद और व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं। उक्त व्यवस्था में उक्त अवगुणों के पनपने का अवकाश अधिक नहीं था। पिता से पृथक् पुत्र का कोई विचार या स्वार्थ बनता ही नहीं। पुत्र में संस्कार ही ऐसे होते कि वह अपना अस्तित्व पिता से पृथक् कुछ सोचता ही नहीं। यही स्थिति पत्नी की थी और यही स्थिति छोटे भाई की। इस प्रकार मतभेद का अभाव मनोभेद को रोके रखता था।

दायित्व का दुरुपयोग

पिता का, पति का व बड़े भाई का अपने अनुगत के प्रति क्या कर्तव्य था, इस विषय में भी सुन्दर सामाजिक मान्यताएं थीं। उनके लिए भी कर्तव्य-बन्धन थे। पर, कर्तव्य का जितना दिग्दर्शन धर्म-शास्त्रों और नीति-शास्त्रों

में पुत्र, पत्नी आदि के लिए था, उतना पिता, पति आदि के लिए नहीं था। इसलिए वे कभी-कभी कर्तव्य-परायणता से पराङ्मुख भी हो जाते थे। अपने दायित्व और अधिकार का दुरुपयोग भी कर वैठते थे, पर, अनुगत हर स्थिति में इतने समर्पित रहते कि वे उनमें दोप देखते ही नहीं, उनका विरोध करते ही नहीं, अपने अधिकार की वात उठाते ही नहीं। इससे पारिवारिक स्थिति भंग या दुःखमय नहीं बनती। युधिष्ठिर ने अपनी पत्नी द्रौपदी को द्यूत पर लगा दिया। उसे दाँव में हार गये। इससे द्रौपदी को भयंकर रूप से अपमानित भी होना पड़ा। पर, द्रौपदी का युधिष्ठिर के प्रति कोई अनादर या विद्रोह नहीं था। वह उसके प्रति उतनी ही समर्पित और प्रेम-परायण थी, जितनी पहले।

बदलते मूल्य

अव समय वदला है। वौद्धिक मूल्य वदले हैं। तर्क और अधिकार का क्षेत्र विस्तृत हुआ है। पुत्र का, पत्नी का, भाई का, सभी का स्वत्व जगा है। पारिवारिक व्यवस्थाओं में विश्रृंखलता होने लगी है। पिता समझता है, पुत्रों में विनयशीलता घट गई है, अहं वढ़ गया है। पति सोचता है। पढ़ी-लिखी पत्नी लाकर मैंने सिरदर्द खड़ा कर लिया है। मेरा कहा मानते रहना तो दूर, मुझे ही वह सव कुछ मनवाना चाहती है। वड़ा भाई सोचता है, पहले के छोटे भाई वड़े भाई को पिता तुल्य मानकर चलते थे। आज वे वरावरी से बात करते हैं। यही समस्या सास और वहू के वीच है और यही जेठानी और देवरानी के वीच। पारिवारिक जीवन की समस्याएं वहुत छोटी होती हैं। पर, वे जीवन को किसी भी वड़ी समस्या से अधिक प्रभावित करती हैं। दिल और दिमाग में रहनेवाला प्रतिदिन का तनाव एक चिन्ता ही न रहकर वहुत वार व्यक्ति की चिता वन जाता है। समाज में होनेवाली अपमृत्युओं में सर्वाधिक पारिवारिक समस्या से ही सम्बद्ध होती हैं, ऐसा माना जाता है। आज का मनुष्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में डूवा रहता है, पर, पारिवारिक समस्याओं को वह आंखों से ओझल नहीं कर सकता। अर्थ-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था से भी अधिक ध्यान उसे पारिवारिक व्यवस्था पर देना होगा।

पश्चिम का पारिवारिक जीवन

पश्चिम का पारिवारिक जीवन बिखरता-सा प्रतीत हो रहा है। वहाँ यह चिन्तन बना है कि एक दूसरे की चिन्ता छोड़ो। एक दूसरे पर अनुशासन करना छोड़ो। सबको अपने मनचाहे ढंग से जीने दो। पारिवारिक चिन्ताओं और तनावों से बचे रहने का यही उपचार है। इस चिन्तन से और प्रवर्तन से दिल और दिमाग का कुछ भार तो मिटा, पर, जीवन रिक्त और सूखा बन गया। पितृ-प्रेम, मातृ-वात्सल्य आदि से मिलनेवाला आनन्द जीवन से कोसों दूर चला गया। वृद्ध माता-पिता पुत्रों से दूर अलग-थलग सरकार की शरण में रहते हैं। सेवा का दायित्व पुत्रों व पुत्र-वधुओं पर तनिक भी नहीं रह गया है। अपने पति की मृत्यु के बाद माता अकेली रह जाती है और अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद पिता अकेला रह जाता है। घर हो तो घर में, नहीं तो सरकारी वृद्ध-गृहों में।

भारतीय मानस ऐसी व्यवस्थाएं नहीं अपना सकता। भारत में पारिवारिक जीवन **मातृ देवो भव, पितृ देवो भव** के संस्कारों पर आधारित है। यहां पारिवारिक व्यक्ति एक दूसरे के सुख-दुःख के साथी होकर जीना पसन्द करते हैं। एक दूसरे की आत्मीयता में बंधे वे दुःख को भी सुख ही मानकर चलना चाहते हैं। पारिवारिकता को खोकर किसी शान्ति या सुख की अपेक्षा नहीं करते।

प्रश्न रहता है, भारतीय पारिवारिकता जिन मूल्यों पर टिकी हुई थी और युग के नवीन मूल्यों ने उसमें जो एक झंझावात ला दिया है, उसका समाधान क्या हो?

समाधान की दिशा में कुछ रूढ़ विचार छोड़ देने होंगे, कुछ व्यवस्थाओं का आविष्कार अपेक्षित होगा, कुछ अध्यात्म के आधार पर वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का परिमार्जन करना होगा। इन सारी बातों को हम सूत्र रूप में निम्नोक्त प्रकार से सोच सकते हैं।

परिवार के बड़े माता, पिता, सास, बड़ा भाई आदि देश-काल के अनुसार अपने चिरन्तन अधिकारों का कुछ-कुछ विसर्जन करते रहें। युग-प्रवाह के साथ राजाओं को, जमींदारों को अपने अधिकार छोड़ देने पड़े।

उद्योगपतियों को आए दिन अधिकारों का कुछ-कुछ विसर्जन करना पड़ रहा है। प्राचीन परिवार-प्रणाली में घर के अगुआ की भी एक छत्र सत्ता रही है। वर्तमान देश-काल में उसे ज्यों-की-त्यों चलाते रहने में विग्रह, मनो-मालिन्य आदि खड़े होने तथा पारिवारिक इकाई के टूट जाने की अधिक संभावनाएं हैं। विगत दो दशकों में व्यक्ति के रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान आदि में तथा हर बात को सोचने के तौर-तरीकों में आकस्मिक और अप्रत्याशित परिवर्तन हुआ है। परिवार का अगुआ यदि आग्रह रखे कि मेरी चालीस वर्ष पुरानी परिभाषाओं से ही परिवार के सब लोग खाएं-पीयें, पहनें-ओढ़ें, तो यह एक अशक्य अनुष्ठान का अशक्य आग्रह होगा। अस्तु, परिवार का अगुआ अपनी अनुशासन की लगाम को इतनी कसके न रखे कि परिवार का घोड़ा उसे ही गिरा दे और स्वयं यत्र-तत्र भाग निकले। वर्तमान समय पारिवारिक अगुआ के विवेक व विचारशीलता की कसौटी का है। बहुत सजग रहकर ही वह पारिवारिक शान्ति, सौहार्द और व्यवस्था को स्थिर रख सकता है।

अन्न जितना नमक

अगुआ के मन में एक बद्धमूल धारणा रहती है; नई पीढ़ी के लोग नादान हैं, अनुभव-शून्य हैं। मैंने बहुत दीवालियां देखी हैं। नई पीढ़ी ने जितना अन्न खाया है, उतना मैं नमक खा गया हूं। इसे मनमाना अधिकार दे कर मैं परिवार का अहित कैसे उठा सकता हूं! इस धारणा में सत्यांश हो सकता है, पर, परिपूर्ण सत्य नहीं। अधिक सत्य तो यह लगता है कि वर्तमान के सामाजिक व व्यावसायिक जीवन में पुरानी पीढ़ी खप नहीं रही है। नई पीढ़ी ही उसमें दक्षता से आगे बढ़ रही है। समाज और व्यवसाय के परिवर्तनों को हृदयंगम न कर सकने के कारण बहुत से वयोवृद्ध लोगों को घर बैठ जाना पड़ा है।

तरुण वर्ग देश-काल के अनुरूप पारिवारिक सुविधाएं चाहे, यह अनु-चित नहीं है। पर, देश-काल के प्रवाह में आंख मूंदकर बह जाना भी हित-कर नहीं है। तरुण वर्ग अपने घर के अगुआ से असंभव व अव्यावहारिक मांगें पूरी कराने का आग्रह भी न रखे। तरुण वर्ग को यह ध्यान में रखकर

चलना है, समष्टिगत व्यक्ति एक सीमा तक ही स्वतन्त्रता चाह सकता है। सह-जीवन में आवश्यक व उपयुक्त बातों का आग्रह भी कभी-कभी छोड़ देना पड़ता है। पारिवारिक एकता पर आँच आये, ऐसी स्थिति ज्यों-त्यों टाली ही जाती है।

तरुण दम्पतियों में एक स्वार्थ परक भावना पनप रही है। विवाह के कुछ ही बाद वे सोचने लगते हैं—बड़ा परिवार एक धर्मशाला है। हम अलग-थलग आराम का जीवन जीयें। अच्छी नौकरी है, थोड़ा खर्च है। रहन-सहन की सुविधा होगी। वे यह नहीं सोचते, परिवार में हम पले हैं, शिक्षित हुए हैं। अब हम परिवार को कुछ सेवाएं दें, यह हमारा कर्तव्य है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए जो माता-पिता से अलग होते हैं, वे अपने कर्तव्य से भागते हैं। यह भिन्न बात है जो, केवल व्यवस्था की सुचारुता के लिए अलग होते हैं और परिवार को अपेक्षित सेवाएं देते रहते हैं।

यह सामान्य प्रथा है, परिवार में अनेक भाई हैं, तो एक-एक कर अलग होते जाते हैं और सबसे छोटा भाई माता-पिता के साथ रहता है। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। वैर-विरोध व कलह करके पृथक् होना समाज के लिए असुन्दर उदाहरण होता है।

अव्यवस्था व दुर्व्यवस्था

पारिवारिक शान्ति बनाए रखने में उपयुक्त व्यवस्थाएं भी बहुत आवश्यक होती हैं। अव्यवस्थाओं एवं दुर्व्यवस्थाओं के कारण सुदृढ़ पारिवारिक इकाइयां क्षणों में टूट जाती हैं। व्यवस्था के सुयोग में दुर्बल पारिवारिक इकाई भी चिरस्थायी हो जाती है। परिवार में विग्रह व मनोभेद का उद्गम बहुधा खर्च व काम-काज को लेकर होता है। सुव्यवस्था से ये हेतु सहज ही टाले जा सकते हैं।

अनेक दम्पतियों का अधिक दिनों तक एक साथ रहना भी विग्रह का कारण बनता है। पारिवारिक इकाई चाहे अनेक दम्पतियों की हो, पर, रहन-सहन निर्धारित व्यवस्था के अनुसार पृथक् रहे, तो पारिवारिक प्रेम और एकता अधिक टिकाऊ होते हैं, ऐसा देखा जाता है।

परिवार-नियोजन भी पारिवारिक सुव्यवस्था का एक अंग है, वर्तमान की यह एक बुद्धिगम्य मान्यता है। बहुत सन्तान समाज का एक अवगणित मूल्य बनता जा रहा है। युवक दम्पतियों का विवेक इस दिशा में प्रचुर मात्रा में जागृत हुआ है।

व्यावसायिक विकास की दृष्टि से संयुक्त इकाई उपयोगी मानी जाती है। छोटी इकाई बड़े विकास के लिए अक्षम मानी जाती है। यही कारण है, बहुत बार भाई-भाई, खान-पान, रहन-सहन से पृथक् हो जाते हैं और व्यावसायिक दृष्टि से एक रहते हैं। उस इकाई में एक ही अगुआ हो, तो आसानी से काम चलता है। समान श्रेणी के अनेक लोग हों तो मतभेद का प्रश्न पग-पग पर खड़ा होता ही रहता है। इकाई आज टूटी, कल टूटी; इस स्थिति में ही बनी रहती है। इस टूट को बचाने का एकमात्र मार्ग बहुमत की मान्यता का है। बहुमत की निर्णायकता को सभी शिरोधार्य करके चलते रहें, तो शान्ति, एकता और प्रेम स्थिर रह सकते हैं।

आध्यात्मिक उच्चता

सब व्यवस्थाओं और सब सावधानियों के उपरान्त भी परिवार-प्रणाली में टकराने के अवसर शेष रह ही जाते हैं। मनुष्य में जब तक अहं, घृणा, क्रोध, आवेश, ईर्ष्या, अन्याय, अनीति आदि दुर्गुण शेष हैं, तब तक उनका अशेष होना सम्भव ही कैसे हो सकता है! परन्तु, जब तक मनुष्य में नम्रता, प्रेम, क्षमा, सन्तुलन, सहिष्णुता, न्याय, नीति का उद्गम सम्भव है, तब तक मनुष्य को हताश होकर बैठने की भी आवश्यकता नहीं है। परिवार में अध्यात्म का प्रभाव हो और उक्त सद्गुणों का विकास हो, तब तक पारिवारिक जीवन शान्ति व सुख से भरा-पूरा ही रहेगा। तात्कालिक टकराव अपनी मौत मरते जायेंगे।

धर्म जीवन के साथ अनुस्यूत हो, इसकी प्रथम प्रयोगशाला परिवार ही है। वहां व्यक्ति आध्यात्मिक व नैतिक मूल्यों को किस प्रकार चरितार्थ कर सकता है, यह उसकी कसौटी है। उदारता, आत्मीयता, त्याग, समर्पण आदि गुणों पर ही समाज टिका है और उन्हीं गुणों पर परिवार टिक सकता है। इन्हीं गुणों से व्यक्ति मान्य, पूज्य एवं श्लाघ्य हो सकता है।

: १२ :

भारतीय नारी : युग-युग में और आज

उपेक्षा के चक्रव्यूह में

महर्षि मनु ने कहा—**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः** जहां स्त्रियों की प्रतिष्ठा है, वहां देवों का निवास है। स्त्रियों के विषय में यह सर्वोत्तम उक्ति है। इसी उक्ति के आधार पर बताया जाता है, भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान बहुत ऊंचा है। किसी अपेक्षा विशेष से यह सत्य भी होगा, पर, कुल मिलाकर देखें, तो क्या भारत में, विश्व में नारी पुरुष की अपेक्षा बहुत ही पिछड़ी दशा में रही है। समाज का नियन्ता पुरुष रहा है और उसने नारी को सदैव संकीर्ण सीमाओं में बांधा है। इसमें पुरुष का नारी के प्रति दौर्मनस्य था, ऐसा नहीं, पर, स्वयं का व समाज का हित उसको इसी में लगा। यह एक प्रकार का दृष्टि-दोष था। नारी के व्यक्तिगत हितों को इसमें सर्वथा गौण कर दिया गया था। समाज-हित जो उसमें समझा गया था, वह भी उसका व्यक्तिगत स्वार्थ ही था। उसने सारे सामाजिक नियमन स्त्री पर डाले और स्वयं उनसे मुक्त रहा। इसके उदाहरण हैं—स्त्री एक ही पति करे; पुरुष चाहे तो सहस्रों पत्नियां भी कर सकता है। पति की चिता पर स्त्री आत्म-दाह करे, सती हो जाये; पुरुष स्त्री के पीछे ऐसा तो करेगा ही नहीं, पर, उसके पीछे विधुर भी नहीं रहेगा। उसके घर को फिर से कोई नवोढ़ा सुशोभित करेगी। सदाचार समाज में आवश्यक है, पर, घूंघट इसके लिए स्त्री ही लगायेगी, पुरुष नहीं। ये नियमन ही पुरुष ने स्वयं पर किये होते, तो उसे अनुभव होता, ये कितने कठोर और

कितने अव्यवहार्य हैं। उसने नारी की सीमाओं को इस प्रकार से सोचा ही नहीं कि ये ही सीमाएं यदि मेरे लिए हों तो ?

नारी इनको व इस प्रकार के अन्य नियमों को शताब्दियों तक निभाती रही। आज भी वैसी ही अनेक रूढ़ियों से वह चिपटी बैठी है। वह स्वयं भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहती। इसका कारण है, उसका चैतन्य मूर्छित हो चला है। उसे स्वत्व का भान भी नहीं हो पा रहा है। जिन श्रृंखलाओं से वह बांधी गई है और उनकी उपयोगिता जैसे उसे समझाई गई है, वह उसके अणु-अणु में रम गई है। उसने उसे ही अपना अजर-अमर स्वरूप मान लिया है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी पुरुष ने स्त्री को अपने साथ नहीं रखा। पुरुष में विद्या का, बुद्धि का विकास होता चला। नारी जहां की तहां रही। योग्यता के अभाव में वह और उपेक्षित होती गई। वाणिज्य को स्त्री क्या समझे, राजनीति को स्त्री क्या समझे, यह कह कर पुरुष ने उसको घर की चहार-दीवारी तक सीमित कर दिया। पति अपनी आय व सम्पत्ति भी पत्नी से नहीं बताता, यह कह कर कि उसके पेट में बात पचेगी नहीं। गृह, समाज, व्यापार आदि में स्त्रियों का परामर्श हास्यास्पद बना दिया गया। समाज में यह मान्यता बन गई, स्त्रियों के परामर्श पर चलने वाला परिवार, समाज या राज्य नष्ट ही हो जायेगा। पुरुष ने नहीं सोचा, नारी इतनी अयोग्य या अक्षम क्यों है तथा वह योग्य या सक्षम कैसे बन सकती है ? ऐसा होना प्रकृतिगत मानकर वह उससे वैसे ही बर्तता रहा। परिणाम हुआ, नारी अक्षम बनती गई और उसी आधार पर पुरुष उसकी अधिकाधिक उपेक्षा करता गया। उपेक्षा और अक्षमता की एक श्रृंखला बन गई। उपेक्षा से अक्षमता और अक्षमता से उपेक्षा; इस चक्र-व्यूह में नारी शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक फंसी रही।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हेयता

इस प्रकार नारी सामाजिक जीवन में तो उपेक्षित थी ही, आध्यात्मिक जगत् में भी वह हेय बतायी जाती रही। ऋषियों ने, महर्षियों ने, सन्तों ने, साधकों ने पुरुष के पतन का हेतु स्त्रियों को ही बताया। उसे कूट-कपट

की खान कहा, पुरुष को नरक-कुण्ड में डाल देने वाली कहा। और न जानें उसे क्या-क्या कहा। वस्तुस्थिति यह थी कि विकार-हेतु पुरुष के लिए स्त्री थी और स्त्री के लिये पुरुष था। पता नहीं, स्त्री ने ही पुरुष को कैसे डुबोया ? अधिक यथार्थ तो यह रहा कि पुरुष ही नारी को पथ-भ्रष्ट करने में अगुआ रहे हैं। पुरुष स्त्रियों को बलात् उठाकर ले भागे, ये उदाहरण तो इतिहास के पृष्ठों पर व धर्म-ग्रन्थों में अनगिनत मिलेंगे, पर स्त्री पुरुषों पर बलात्कार करती प्रायः न देखी गई है, न सुनी गई है।

ऋषि-महर्षि और साधु-मुनि विरक्त वृत्ति में थे। अन्य पुरुषों को भी वे विरक्त देखना चाहते थे। उनकी निरंकुश काम-वृत्ति को सीमित करने के लिए उन्होंने स्त्री की गर्हा की, पर, समाज ने यही समझा, ज्ञानी पुरुषों ने कहा है; अतः स्त्री ही ऐसी है, पुरुष ऐसा नहीं।

अध्यात्म की अन्य अनेक दिशाओं में भी नारी तर्जित ही रही। नारी होना भी पाप माना गया। किसी ने कहा—यह मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। किसी ने कहा—यह संन्यास और दीक्षा की अधिकारिणी नहीं है। अध्यात्म में और शिक्षा में स्त्री के पिछड़ेपन का कितना सबल उदाहरण है कि वैदिक, बौद्ध, जैन परम्परा के असीम वाङ्मय में एक भी ऐसा आधारभूत ग्रन्थ नहीं है, जो किसी विदुषी साधिका के द्वारा लिखा गया हो।

भारती का, या ऐसे कुछ एक अन्य नाम लेकर समस्त नारी समाज को शिक्षा के क्षेत्र में समुन्नत बताया जाता है। शताब्दियों और सहस्राब्दियों के इतिहास में दो-चार नामों का मिल जाना नारी समाज की शिक्षित दशा का मान-दण्ड नहीं बन जाता। उन नामों का उपयोग तो केवल इसी संदर्भ में संगत हो सकता है कि अविद्या के उस युग में भी नारी ऐसी हो सकती है, तो आज के विद्या-बहुल युग में वह अशिक्षित व अपढ़ रहे, यह लज्जा की बात है।

बुद्ध व महावीर के युग में

नारी युग-युग के अंकन में इतनी पिछड़ती गई कि उसे पर्याप्त रूप से उठा लेना किसी एक ही युग-पुरुष के वश की बात नहीं रही। नारी के प्रति अनेक कुण्ठित लोक-धारणाएं प्रचलित हो गई थीं। किसी भी क्षेत्र में उसे

आगे लाने में सामाजिक विरोध से लोहा लेना पड़ता था। बुद्ध के सामने प्रश्न आया, संघ में पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी दीक्षित किया जाये। बुद्ध इस पक्ष में नहीं थे। स्त्रियों को भिक्षु-संघ में लेना उन्हें सामाजिक दृष्टि से व संघीय दृष्टि से उचित नहीं लगता था। बुद्ध की मौसी मां प्रजापति गौतमी ने आग्रह लिया। वह अनेक शाक्य स्त्रियों के साथ भिक्षुणी का वेश धारण कर बुद्ध के सम्मुख आ गई। निडरतापूर्वक उसने बुद्ध से कहा—"यह आपका कैसा धर्म-संघ है, जिसमें स्त्रियों को आत्म-साधना का अधिकार नहीं है।" बुद्ध के अग्रणी शिष्य आनन्द ने भी गौतमी की दीक्षा का आग्रह लिया। बुद्ध ने कहा—"यह कैसा लगेगा की शाक्य कुल की स्त्रियां विभिन्न कुलों में भिक्षार्थ भ्रमण करेंगी ?"

आनन्द—"भन्ते ! जिस गौतमी ने मातृ-अभाव में आपका लालन-पालन किया, उसे आप संघ में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा न दें, यह भी तो कैसा लगेगा ?"

बुद्ध—"आवुप आनन्द ! मैं तुम्हारे आग्रह पर गौतमी को उपसम्पदा (दीक्षा) की अनुज्ञा देता हूँ, पर, साथ-साथ यह भी घोपणा करता हूँ कि मेरा धर्म-संघ मेरे पश्चात् जितने समय तक चलता, अब उससे आधे समय तक चलेगा; क्योंकि संघ में स्त्रियों का प्रवेश हो गया है।"

इस घटना-प्रसंग से पता चलता है, नारी-विपयक हीन भावनाएं पुरुष के मस्तिष्क में कहां तक घर किये हुए थीं। युगपुरुप भी उसके अपवाद नहीं थे। बुद्ध ने इसी प्रसंग में इतना और जोड़ा, नव दीक्षित भिक्षु चिर दीक्षित भिक्षु को नमस्कार करता है, पर, जो भिक्षुणी चिर दीक्षिता होगी, वह भी नव दीक्षित भिक्षु को ही नमस्कार करेगी। गौतमी ने दीक्षा-प्रसंग पर तो मूक भाव से बुद्ध की इस आज्ञा को शिरोधार्य किया, पर, कुछ ही दिनों पश्चात् प्रश्न उठाया—"भन्ते ! ऐसा क्यों, कि चिर दीक्षिता भिक्षुणी नव दीक्षित भिक्ष को नमस्कार करे ? नव दीक्षित भिक्षु यदि चिर दीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करे, तो क्या हानि है ?"

"गौतमी ! इतर धर्म-संघों में भी ऐसा नहीं होता कि पुरुप स्त्री को अर्थात् भिक्षु भिक्षुणी को नमस्कार करे। अपना धर्म-संघ तो उन सबसे श्रेष्ठ है, इसमें तो ऐसा हो ही कैसे सकता है !"

गौतमी का यह प्रश्न अब तक ढाई हजार वर्षों के बाद भी निरुत्तर खड़ा है। स्त्री पुरुष की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दे सकी, न पुरुष ने ही इस विषय में अपना औचित्य बदला। बौद्ध और जैन; दोनों धर्म-संघों में अब तक यही परम्परा चल रही है।

जैन परम्परा में सदा से ही स्त्री और पुरुष दोनों समान रूपसे दीक्षित होते रहे हैं। महावीर के सामने प्रश्न आया—क्या भिक्षु की तरह भिक्षुणी भी आचार्य के गुरुतर पद पर आरूढ़ हो सकती है? समाधान रहा, संघ में एक भी भिक्षु इस योग्य हो, तब तक भिक्षु ही आचार्य बनेगा, भिक्षुणी नहीं। योग्य भिक्षु के अभाव में भी वही भिक्षुणी आचार्य पद पर आरूढ़ हो सकती है, जिसकी दीक्षा-पर्याय कम-से-कम साठ वर्ष की हो चली हो, जब कि भिक्षु तरुण भी आचार्य-पद पर आसीन हो सकता है। प्रस्तुत विधान भी यही बात व्यक्त करता है—श्रेष्ठता से, योग्यता से, क्षमता से नारी को बहुत न्यून समझा जाता रहा है। पर, कहा जा सकता है. महावीर और बुद्ध के युग में नारी जहां थी, वहां से बहुत-कुछ आगे बढ़ी है।

बुद्ध की पत्नी यशोदा अवगुंठन नहीं रखती थी। राजकुल की वृद्ध महिलाएं उसे ऐसा करने के लिए विवश करतीं, तो वह कहती—ऐसा क्यों आवश्यक है, मेरी समझ में नहीं आता; अतः अवगुंठन नहीं रखूंगी। गौतमी और यशोदा संभवतः इतिहास की प्रथम महिलाए होंगी, जिन्होंने नारी-जाति के पक्ष में प्रश्न खड़े किये।

लगता है, नारी के प्रति रहा हीनता और उपेक्षा का भाव गोस्वामी तुलसीदास जी के समय तक तो बना ही रहा। उन्होंने स्वयं जो नारी को तर्जना के योग्य कहा, इससे उस युग तक की सामाजिक धारणाएं ही प्रतिबिम्बित होती हैं। तुलसीदासजी के पश्चात् भी बहुत समय तक भारतीय संस्कारों में वही धारणाएं पनपती रहीं। लोक-धारणाएं थीं—एक घर में दो कलमें नहीं चलतीं अर्थात् पत्नी का पढ़ना पति के लिए शुभ नहीं है। स्त्री के मानस में इतना भय भर दिया जाये, तो उसके पढ़ने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। बिना शिक्षा के अन्य विकास स्वयं कुण्ठित रह ही जाते हैं।

नये युग में काराएं कटीं

नया युग आया। विज्ञान ने उक्त प्रकार के अन्ध विश्वासों को कोसों दूर ढकेल दिया। सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में ज्यों ही समानता और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विचार उभरे, नारी की बहुत सारी काराएं एक साथ कटीं। शिक्षा, साहित्य, राजनीति और सार्वजनिक क्षेत्रों के द्वार प्रथम बार नारी के लिए खुले। युग-युग से सामाजिक घुटन में रही नारी मुक्त श्वास का वातावरण मिलते ही अप्रत्याशित रूप से आगे बढ़ गई। आज वह प्रधानमंत्री के पद पर भी देखी जाती है और अन्य शीर्पस्थ पदों पर भी। सार्वजनिक क्षेत्र में भी वह पुरुप से पीछे नहीं है। उसने चन्द दिनों में यह प्रमाणित कर दिया कि अक्षमता और अयोग्यता परिस्थितिजन्य थी, न कि नैसर्गिक।

स्वाधीनता के लिए नारी ने कोई विप्लव नहीं किया था। युग की करवट के साथ पुरुप का चिन्तन ही उदार और विकसित हुआ। उसने ही सोचा, समाज का एक अंग इस प्रकार पक्षाघात से पीड़ित रहे, यह किसी भी स्थिति में श्रेयस्कर नहीं है। वह नारी के साथ न्याय भी नहीं है। पुरुष की युगीन चेतना ने श्रमिक को अवसर दिया, किसान को अवसर दिया, अछूत को अवसर दिया, इसी प्रकार नारी को भी अपने पैरों पर खड़ा होने का एवं अपनी सुपुप्त शक्तियों को विकसित करने का भी अवसर दिया है।

हेय और उपादेय का मापदण्ड

वर्तमान युग ने भारतीय नारी को संक्रान्ति-रेखा पर खड़ा कर दिया है। एक ओर उसके सामने सीता, सावित्री आदि के शील व सेवा के आदर्श हैं; एक ओर उसके सामने अपने समानाधिकार के उपयोग का प्रश्न है। दूसरे शब्दों में एक ओर संस्कृति का प्रश्न है तथा एक ओर आधुनिक प्रगति का प्रश्न है। वर्तमान में संस्कृति विकृति-मिश्रित हो रही है। उसके नाम पर नाना अन्धविश्वास, नाना रूढ़ियां चल रही हैं। नारी को अपनी हंस-मनीषा से संस्कृति और विकृति का पृथक्करण करना होगा। प्रगति

भी आज अन्धानुकरण से पीड़ित है। उसे भी अपने विवेक से स्वस्थ दशा में लाना होगा। इस प्रकार प्राचीन व अर्वाचीन की समन्वित रूप-रेखा पर भारतीय नारी का नया दर्शन खड़ा होगा। भारतीय नारी को अपनी बद्धमूल धारणा का विसर्जन कर देना होगा कि प्राचीन है, वही श्रेष्ठ है। जो पूर्व पुरुषों ने कहा है, वही श्रेष्ठ है। प्राचीन में भी श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ दोनों रहे हैं! राम था, उसी युग में रावण था। सीता थी, उसी युग में शूर्पणखा थी। कृष्ण था, उसी युग में कंस, और युधिष्ठिर था, उसी युग में दुर्योधन था। पूर्व पुरुषों ने जो कहा, अपनी समझ से अपने देश-काल में कहा। आज नारी को अपनी समझ से अपने देश-काल में सोचना है। बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओ! तुम इसलिए किसी बात को स्वीकार न करो, कि वह तथागत (बुद्ध) की कही हुई है। तुम वही बात स्वीकार करो, जिसके लिए तुम्हारा विवेक तुम्हें प्रेरित करता है।" अस्तु, हेय या उपादेय का मानदण्ड नवीनता या प्राचीनता नहीं, मनुष्य का प्रबुद्ध विवेक ही उसका अन्तिम मानदण्ड है। भारतीय नारी पूर्व पुरुषों की बात को विवेकपूर्वक स्वीकार करे, तो वह नवीन युग के स्रष्टाओं का भी आंख मूंद कर अनुसरण न करे, भले ही वे डार्विन, मार्क्स या फ्रायड हों।

विभिन्न कार्य-क्षेत्र

क्रमागत भारतीय समाज-व्यवस्था का स्वरूप रहा है—नारी घर को संभाले, भोजन-पानी की व्यवस्था करे, बच्चों की सार-सम्भाल करे। शेष सब पुरुष करे। इस व्यवस्था में स्त्री के पल्ले बहुत ही सीमित दायित्व रहता है। सीमित दायित्व में नारी का विकास भी सीमित ही रह जाता है। वर्तमान युग का मानदण्ड बन गया है, स्त्री पुरुष के सभी प्रकार के दायित्व में हाथ बंटाए और उसे बल दे। शिक्षा, साहित्य, राजनीति, वाणिज्य और सार्वजनिक क्षेत्र में पुरुष जितना ही दायित्व वह अपना समझे। प्रश्न आता है: इससे गृह-व्यवस्था भंग हो जायेगी। पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायेगा। यह प्रश्न यथार्थ नहीं है। गृह-कार्य का सामंजस्य बिठा कर भी महिला अन्य किसी भी क्षेत्र में सुगमता से कार्य कर सकती है। एक वकील अपनी वकालत भी चलाता है, सार्वजनिक क्षेत्र व

राजनीति में भी सुगमता से कार्य करता है। देखा जाता है, वह अपने दोनों क्षेत्रों में शीर्षस्थ स्थिति तक पहुँचता है। अन्य अनेक लोग बड़े-बड़े विभिन्न दायित्व एक साथ संभालते हैं। नारी के लिए ही ऐसा क्यों सोचा जाये कि वह अन्य क्षेत्रों में आई, तो घर चोपट हो जायेगा।,

आर्थिक दायित्व

भारत में ऐसी परम्परा भी व्यापक रूप से रही है कि परिवार में एक कमाये और दस व्यक्ति बैठे-बैठे खायें। धनिकों, उद्योगपतियों एवं बड़ी नौकरी वालों के ऐसा निभता भी रहा है। युग समाजीकरण की ओर बढ़ रहा है। कानून और व्यवस्थाएं निम्न वर्ग के पक्ष में जा रही हैं। अधिक मुनाफा और अधिक संग्रह विभिन्न प्रकार से रोके जा रहे हैं। इस स्थिति में चन्द उद्योगपतियों को छोड़कर कोटि-कोटि मध्यम वर्गीय लोगों के लिए तो यह असम्भव ही होता जा रहा है कि एक कमाये और परिवार के अन्य दस बैठे-बैठे खायें। अस्तु, नारी के लिए चिन्तनीय विषय इतना ही है कि किस प्रकार की आजीविका या व्यवसाय को अपनाये, जिससे उसके गृह-दायित्व एवं आचरण पर कोई आंच न आये।

कला और सामाजिक श्लाघ्यता

अभिनेता और अभिनेत्री; ये दो शब्द समाज में बहुचर्चित हो चले हैं। युवक और युवतियां इस ओर कटिबद्ध हो रहे हैं। माता-पिता के चाहे-अनचाहे वे इस ओर बढ़े ही जा रहे हैं। भारत में जब चलचित्रों का निर्माण शुरू हुआ, तब निर्माताओं को अभिनय के लिए युवतियां सुगमता से मिलती ही नहीं थीं। समाज में इस कार्य को अश्रेष्ठ माना जाता था; अतः लड़कियां इस ओर आने का साहस ही नहीं करतीं। अब अभिनेत्रियों की बाढ़-सी आ गई है। इस प्रकार के व्यवसाय देश में पहले भी किसी रूप में चलते थे। पर, समाज में वे उच्चता की भावना से नहीं देखे जाते थे। अब इस पहलू को चारों ओर से उभार मिल रहा है। प्रशासन उन्हें सम्मानित करता है। समाज कुछ-कुछ ऊंची निगाहों से देखने लगा है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं ने भी उनके लिए स्वतन्त्र पृष्ठ खोल दिये हैं। व्यावसायिक लोगों

के विज्ञापन का निरुपम प्रतीक अभिनेत्री ही बन गई है। अभिनेता और अभिनेत्रियों के साक्षात् मात्र के लिए लाखों लोग एकत्रित हो जाते हैं। समाज में सभी प्रकार के व्यवसाय चलते हैं। श्रेष्ठता की छाप उस पर जब लगाई जाये, तब यह अवश्य सोचना चाहिए, यह हमारी संस्कृति के अनुरूप है या नहीं। किसी युवती का किसी पुरुष के साथ सार्वजनिक रूप से अभिनय करना श्लाघ्य नहीं है। समाज में उसे प्रतिष्ठित करने का तात्पर्य है, समाज की युवतियां सामूहिक रूप से इस ओर प्रवृत्त हों। यह संस्कृति के लिए एक बड़ा धक्का होता है। ऐसे व्यवसायों में कला का सम्बन्ध अवश्य है, पर, उन कलाओं का समाज में सीमित महत्त्व ही रहना चाहिए, जो जीवन को श्रेय की ओर प्रेरित करने वाली न हों। कलाकारों के लिए भी यह चिन्तन का विषय है, उनकी कला का समाज के लिए रचनात्मक उपयोग क्या हो ? मनोविनोद तक ही सीमित रहने वाली कलाएं असामान्य नहीं होतीं।

सौन्दर्य प्रतियोगिता

सौन्दर्य प्रतियोगिता का ढर्रा भी देश में बल पकड़ रहा है। प्रतिवर्ष एक भारत सुन्दरी व एक विश्व सुन्दरी सामने आती है। सौन्दर्य प्रतियोगिता एक पश्चिमी प्रवाह है। उसका सृजनात्मक पक्ष कोई है ही नहीं। फिर भी युवतियों के लिए यह एक गडड्री-प्रवाह बन रहा है। उसका कारण है, पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा इसको महत्त्व दिया जाना। भारत सुन्दरी या विश्व सुन्दरी चुने जाते ही एक अनजाना व्यक्तित्व पत्र-पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर आ जाता है। एक 'नोबल प्राइज' पाने वाले को जितनी ख्याति नहीं मिलती, उतनी एक विश्व सुन्दरी को मिल जाती है। कार्य की उपयोगिता और निरुपयोगिता के अंकन में कोई अन्तर न हो, तो समझना चाहिए, समाज का बौद्धिक स्तर बहुत न्यून है। यही स्थिति सौन्दर्य प्रतियोगिता के सम्बन्ध से समाज में बन रही है।

सौन्दर्य प्रतियोगिता के निर्णायक पुरुष होते हैं। उनके निर्णय का प्रकार भारतीय सभ्यता से बहुत ही परे का होता है। 'भारत सुन्दरी' और 'विश्व सुन्दरी' ये नाम भी यथार्थ नहीं हैं। प्रतियोगिता में भाग लेने वाली

कुछ एक महिलाओं में जो सर्वाधिक सुन्दर हैं, उसे भारत में या विश्व में सबसे सुन्दर ख्यात कर देना कैसे यथार्थ हो सकता है ? अस्तु, सौन्दर्य प्रतियोगिता का बढ़ता हुआ प्रवाह पश्चिम के अन्धानुकरण का एक ज्वलन्त उदाहरण माना जा सकता है।

पर्दा-प्रथा

इसी प्रकार भारत में प्रचलित पर्दा-प्रथा संस्कृति के नाम पर होने वाली विकृति की उपासना का ज्वलन्त उदाहरण है। युग के पैने प्रहारों ने पर्दा-प्रथा की जड़ें खोखली कर दी हैं, फिर भी अन्ध विश्वासों का यह जर्जर वृक्ष धड़ाम से गिर नहीं गया है। कहा जाता है, यह प्रथा यवन-युग की देन है। हो सकता है, यवन-युग में इसने विशेष बल पकड़ा हो, पर, इसके विरल पद-चिह्न तो बहुत प्राचीन काल में भी देखे जाते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने विख्यात नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में अयोध्या-नरेश दुष्यन्त की पत्नी व भरत की माता शकुन्तला के अवगुंठित होने का वर्णन किया है। महाकवि माघ ने अपने 'शिशुपाल वध' काव्य में श्रीकृष्ण की रानियों के अवगुंठन बताया है। बुद्ध की पत्नी यशोदा ने जो घूंघट न रखने का आग्रह लिया, उससे घूंघट-प्रथा की प्राचीनता ही सिद्ध होती है। प्रश्न प्राचीनता का नहीं, उपयोगिता का है। प्राचीन काल में वह चाहे सदा से ही क्यों न रही हो, आज हमें उसकी कोई उपयोगिता नहीं लग रही है, तो वह त्याज्य ही है। उसे भारतीय संस्कृति या भारतीय सभ्यता का अंग मानकर पुष्ट करते रहना नितान्त हास्यास्पद ही है।

आकर्षक वेशभूषा

नारी समाज में सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग पहले भी था, प्रकारान्तर से आज भी है। बहुमूल्य और जगमगाते आभूषणों से, रंग-रंगीली साड़ियों से उसकी मंजूषाएं पहले भी भरी मिलती थीं, आज भी भरी मिलती हैं। पहले स्त्रियों की तरह पुरुष भी चाकचिक्य के समीप था। वह भी रंगरंगीले वस्त्रों व बहुमूल्य और विविध आभूषणों में सजा रहता था। आधुनिक सभ्यता ने उसको बदल दिया। आभूषण तो उसके शरीर से हट ही गये, वेश-

भूषा भी एक मान्य स्तर पर आने लगी है। आज बाजार जितना साड़ियों पर चलता है, उतना धोती और पैंटों पर नहीं चलता। घर में भी देखें, तो पुरुष और स्त्री के व्यक्तिगत व्यय और संग्रह में बहुत अन्तर मिलेगा। नारी को इस दिशा में पुरुष की तरह ही सुधार लाने की अपेक्षा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार नारी के लिए शील ही शृंगार है, इस आदर्श को वह जीवन में चरितार्थ क्यों नहीं करती? स्त्री और पुरुष के बीच एक दूसरे का आकर्षण समान है, तो साज-सज्जा का अनहोना भार केवल नारी ही अपने सर क्यों ले लेती है? उसे भी अपनी वेश-भूषा के स्तर को पुरुष की तरह संयत और सादा बनाना चाहिए।

आधुनिक वातावरण में नारी पहले से भी अधिक कृत्रिम होती जा रही है। लिपस्टिक, पाउडर, विचित्र केश-विन्यास कृत्रिमता के सजीव उदाहरण हैं। अनावरण की मानो प्रतियोगिता चल पड़ी है। सभ्यता के नाम पर नग्नता बढ़ रही है। आवरण और अनावरण की जैसे कोई रेखा ही नहीं रही है। एक सभ्य पुरुष धोती में या कुर्ते में, कोट, बुशशर्ट और पैंट में आवृत रहता है। सिर पर भी कुछ लोग टोपी या पगड़ी रख लेते हैं। स्त्रियों का आवरण मुख से गया, सिर से गया और अब पेट व पीठ से भी जा रहा है। यह निम्नता की प्रगति अश्लाघ्य है। नारी को स्वयं प्रबुद्ध होकर अपनी वेश-भूषा की संयत रेखाएं स्थिर करनी चाहिएं। उसके पक्ष में जनमत जागृत करना चाहिए ताकि सीमातीत अनावरण सामाजिक मान्यता न पा सके। अस्तु, कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है, नारी प्रगति पाये, पर, सत्य, संयम और सदाचार की पृष्ठभूमि पर।

□ □

: १३ :

सामाजिक रूढ़ियां और उनसे मुक्ति

सामाजिक प्रथाएं सनातन नहीं होतीं। देश-काल के साथ उनकी प्राणवत्ता न्यूनाधिक होती रहती है। बहुत बार वह नष्ट भी हो जाती हैं। सामाजिक कर्णधारों का दायित्व होता है, वे उनकी प्राणवत्ता को परखते रहें और तदनुसार उन प्रथाओं में परिवर्तन लाते रहें। भारतीय समाज जीर्णता का पोषक रहा है। यह दायित्व वह पर्याप्त रूप से नहीं निभा पाया। परिणामतः बहुत सारी प्रथाएं अपनी प्राणवत्ता खोकर भी समाज में पल रही हैं और समाज को खोखला कर रही हैं।

स्थिति-पोषकता सभ्यता बनी

आधुनिक शिक्षा व सभ्यता के वातावरण से एक चेतना समाज में आई। समाज-सुधारक खड़े हुए। सती-प्रथा, मोसर-प्रथा आदि रूढ़ियाँ समाज से मिटीं। लगता है, स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् समाज-सुधार का कार्य बहुत श्लथ हो गया है। सार्वजनिक कार्यकर्ता राजनीति की ओर मुड़ गये हैं। नई पीढ़ी मुख्य रूप से आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्र में घुस गई। सार्वजनिक संस्थाओं ने शिक्षा, साहित्य व सेवा के अन्य कार्य उठा लिए। सोचा जाता था कि स्वाधीनता के पश्चात् समाज-सुधार का कार्य अधिक चलेगा, पर, हुआ उससे विपरीत ही। राजनैतिक कार्यकर्ता और नेता इस विषय को छूने से घबराने लगे। उनका क्षेत्र लोकप्रियता अर्जित करने का है। समाज-सुधारकों को समाज से लोहा लेना पड़ता है। आलोचनाएं सुननी पड़ती हैं और भर्त्सनाएं सहनी पड़ती हैं। शीर्षस्थ नेता भी समाज-

सुधार के विषय में स्थिति-पोषक बन गये। चलता है, वह चलता है, उसमें पड़ने से क्या लाभ, यही एक उनकी धारणा बन गई। समाज में होने वाली रूढ़ियों और आडम्बरों से परिपूर्ण विवाह आदि में उनका असहकार नहीं रहा। अपने परिवार में निभाई जाने वाली रूढ़ियों में उनका विरोध नहीं रहा। लोक-व्यवहार को यथावत् निभाते रहना उनकी एक सभ्यता बन गई।

युवा वर्ग की सक्रियता

वर्तमान स्थिति में समाज-सुधार के लिए कोई उत्तरदायी नहीं रहा है। पंचायतों का शासन अपनी अपनी समाजों में चलता था, वह छिन्न-विछिन्न हो गया। सरकार इसका दायित्व अपने ऊपर ले ही क्यों और उसका लेना उचित भी कैसे हो? समाज-सुधार का दायित्व मुख्यतः युवक-वर्ग को संभालना चाहिए था। वह अपने आर्थिक विकास में संलग्न है।

वे प्रथाएं जो निष्प्राण हो चुकी हैं और ढर्रे के रूप में निभाई जा रही हैं, उन्हें रूढ़ि कहा जाता है। वह प्रथा भी कुरूढ़ि है, जिसका परिणाम समाज के लिए अहितकर व घातक हो रहा है। जन्म, विवाह, मृत्यु से सम्बन्धित ऐसी अनगिनत रूढ़ियां व कुरूढ़ियां समाज में प्रचलित हैं। रूढ़ियां सदैव आडम्बर, अपव्यय या अज्ञान पर आधारित होती हैं। वर्तमान देश-काल में ये तीनों ही आधार अवांछनीय हैं। पृथक्-पृथक् समाजों में पृथक्-पृथक् प्रकार की रूढ़ियां हो सकती हैं। पर, उन सबके आधार में कोई अंतर नहीं है। युवा-वर्ग को ही इस दिशा में सक्रिय होना चाहिए। हर पीढ़ी आनेवाली पीढ़ी के लिए कुछ भला करके जाती है। वर्तमान पीढ़ी को भी इससे पराङ्मुख नहीं होना है।

एक भी रूढ़ि या दुष्प्रथा सामाजिक जीवन को कितना प्रभावित कर देती है, इसका ज्वलन्त उदाहरण ठहराव और दहेज-प्रथा है। विवाह जैसा मंगल-प्रसंग एक व्यवसाय बन गया है। कभी लड़कियां महंगी हो जाती हैं, कभी लड़के महंगे हो जाते हैं। आजकल लड़के महंगे हैं। लड़की के माता-पिता को जो कठिनाई उठानी पड़ रही है, वह वर्णनातीत है। धनवान् माता-पिता नाकों दम लाकर भी जैसे-तैसे उस कठिनाई को पार कर जाते

हैं। निर्धन माता-पिता के तो घुटने ही टिक जाते हैं। इस व्यथा में फंसी लड़कियां आत्म-हत्या कर लेती हैं; आजन्म अविवाहित रह जाती हैं। माता-पिता लड़कियों के विवाह की चिन्ता में घुले रहते हैं। तिल-तिल कर जलते रहते हैं। जो कुछ है, सब न्यौछावर करके भी, कर्ज लेकर भी बहुत बार वे लड़कियों को व्याह नहीं पाते। उक्त परिस्थितियां कादाचित्क एवं विरल ही होती होंगी, पर, वे समाज की घुटन को मापने की सही तुलाएं होती हैं।

आर्थिक अनैतिकता की हेतु भी

चोर बाजारी, रिश्वत, झूठा तोल-माप आदि समाजगत बुराइयों के पनपते रहने में खर्चीली प्रथाएं भी हेतुभूत हैं। मनुष्य को समाज में जीना है। अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखना है। लड़के-लड़कियों को व्याह देने का उसका अनिवार्य दायित्व है ही। नैतिक व प्रामाणिक आधारों पर चलकर वह इतना अर्थ अर्जित नहीं कर सकता। उस स्थिति में शक्य बुराइयों को भी वह अपनाता है। सामाजिक प्रथाएं खर्चीली न हों, बिना व्यय के भी वे सध जाती हों, काम नहीं रुकता हो, प्रतिष्ठा न्यून नहीं होती हो, तो विवशता से होनेवाली आर्थिक अनैतिकताएं अवश्य सीमित होंगी।

प्रथाओं का घटक मनुष्य

अनेक लोग सामाजिक प्रथाओं को एक शाश्वत सत्य मानकर उन्हें अपरिवर्तनीय मान लेते हैं, यह यथार्थ नहीं है। प्रथाओं का घटक मनुष्य है और वही उनमें परिवर्तन लाने का अधिकारी है। मानव जाति और सामाजिक व्यवस्थाओं के इतिहास का अवलोकन करें तो यह यथार्थता स्वतः व्यक्त हो जाएगी। आश्चर्यकारी परिवर्तन व परिस्थितियां हमें वहां देखने को मिलेंगी। ऋतु के अनुकूल परिधान का परिवर्तन जैसे आवश्यक होता है; वैसे ही देश-काल के अनुरूप सामाजिक प्रथाओं का परिवर्तन भी अपेक्षित होता है।

विवाह की तरह मृत्यु-सम्बद्ध प्रथाएं भी सामाजिक जीवन पर भार बन रही हैं। रोने की प्रथा, शोक की प्रथा बहुव्यय की प्रथा; ये सभी प्रथाएं वर्तमान युग में विमर्षणीय बन गई हैं। पुरुष नहीं रोते, तो प्रथा रूप में स्त्रियों

का रोना क्यों आवश्यक माना जाता है ? प्रथा रूप से रोना सर्वथा बन्द होना चाहिए। शोक-प्रथा बहुत लम्बी चलाई जाती है। पति-वियोग में स्त्री को कितने दमघुट वातावरण में रहना पड़ता है। बारह दिन की प्रथा पारिवारिक लोगों के लिए कितनी भारभूत बन जाती है। शोक-संवेदना का कार्य बहुत थोड़े में भी निपटाया जा सकता है, फिर यह समय का दुरुपयोग क्यों ? विधवा स्त्री को समाज में हीन व हतभागिनी माना जाता है। उसके अपशकुन माने जाते हैं। कितनी मूढ़ताएं सामाज में जीवित हैं, यह उसका एक ज्वलन्त प्रमाण है।

क्रियाकाण्ड धर्म

भारतीय समाज में एक बड़ी भूल यह चल रही है कि जन्म, विवाह एवं मृत्यु से सम्बन्धित क्रियाकाण्डों को धर्म का अंग बना दिया गया है। अध्यात्म का एवं उन क्रियाकाण्डों का कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का अंग बन जाने से वे रूढ़ बन गए हैं। उनमें देश-काल के अनुरूप परिवर्तन ला पाना कठिन हो गया है। हिन्दू है तो उसके जन्म, विवाह व मृत्यु के संस्कार उसी प्रकार से होने चाहिएं, जैसे सहस्रों वर्षों से होते आ रहे हैं। यह सच है, अपनी-अपनी जाति व अपने-अपने धर्म के पृथक्-पृथक् क्रियाकाण्ड बन गये हैं। उन क्रियाकाण्डों से व्यक्ति के धर्म की पहचान भी होने लगती है। पर, उन क्रियाकाण्डों को शाश्वत व अपरिवर्तनीय मानकर चलते रहना किसी भी धर्म व जाति के लिए हितकर नहीं माना जा सकता। अपने-अपने समाज में सभी लोग उन क्रियाकाण्डों की उपयोगिता एवं निरुपयोगिता पर विचार करें व उनमें अपेक्षित परिवर्तन व परिष्कार लाते रहें, तभी उनकी प्राणवत्ता चिर स्थाई रह सकती है।

□ □

: १४ :

राष्ट्रीय एकता से जागतिक एकता की ओर

सामाजिक जीवन का विकास

एक युग था, जब मनुष्य सघन वृक्षों की छाया में और गिरि-कन्दराओं में रहता था। उस समय न कोई देश था, न कोई नगर और न कोई ग्राम। धीरे-धीरे सामाजिकता का विकास हुआ, मनुष्य पारिवारिक और सामाजिक जीवन जीने लगा। उसने ग्राम बसाये, नगर बसाये तथा बड़े-बड़े राष्ट्र आबाद किये। मानव-सभ्यता का यह विकास कुछ शताब्दियों में ही नहीं, अपितु अनगिन सहस्राब्दियों में हुआ। सामाजिकता का यह विकास अहिंसा की पृष्ठभूमि में हुआ। ज्यों-ज्यों मनुष्य का विवेक जगा, उसके जीवन से हिंसा अल्प होती गई और अहिंसा बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों अहिंसा बढ़ती गई, ग्राम, नगर, राष्ट्र; ये समष्टियां बड़ी होती गईं एवं व्यवस्थित होती गईं। इसी विकास के क्रम में समग्र विश्व एक राष्ट्र हो, यह विचार भी मनुष्य के मस्तिष्क में आ गया है। वह उसकी अगली मंजिल है। वह दूर भले ही हो, पर, सामाजिक विकास के इतिहास को देखते हुए मनुष्य कभी उस पर पहुँच जाए, यह असम्भव नहीं माना जा सकता।

प्रश्न होता है, जब संसार में विश्व-एकता और जागतिक एकता की बात चल पड़ी है, तब राष्ट्रीय एकता दिवस मनाने की व राष्ट्रीय एकता पर लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ती है? पर, यह भी अनहोनी बात नहीं है। समाज में सदा से ही दो प्रकार के लोग हुआ करते हैं। एक समाज को आगे

वढ़ाने वाले तथा दूसरे समाज को पीछे ढकेलने वाले। आज जो लोग भापा के नाम पर, जाति के नाम पर, प्रान्तीयता के नाम पर, धर्म के नाम पर आन्दोलन उठा रहे हैं, विवाद खड़ा कर रहे हैं, वे समाज को आगे नहीं वढ़ा रहे हैं, प्रत्युत सहस्रों वर्ष पीछे ढकेल रहे हैं। उत्तर दिशा, दक्षिण दिशा; यह भी एक झगड़ा है। वस्तुस्थिति यह है कि दिशा स्वयं ही एक कल्पना है। वास्तविकता के नाम पर वह शून्य से अधिक कुछ नहीं है। हर व्यक्ति हर दिशा का स्पर्श अपने आप में कर ही रहा है। यह आपेक्षिक धर्म है, जो दक्षिण में है, वह अपेक्षा भेद से पूर्व, पश्चिम, उत्तर; सभी दिशाओं में है। फिर यह दिग्-व्यामोह कैसा ?

अभेद बुद्धि; आत्मौपम्य बुद्धि

भारतवर्ष में ऐसी वातें हों, यह और भी हास्यास्पद है। यह देश सदा से ही अहिंसा के इतिहास में नया अध्याय जोड़ता रहा है। महावीर व बुद्ध जैसे युग-पुरुपों का इतिहास जिनके सामने है और जिन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व में अभी-अभी अहिंसा का एक नया इतिहास गढ़ा है, उसी देश के लोग इतनी संकीर्ण मनोवृत्तियों का परिचय दें, इससे वढ़कर और लज्जा की वात क्या हो सकती है ?

भारतवर्प आध्यात्मिक चिन्तन-मनन का सर्वोपरि क्षेत्र रहा है। विभिन्न धर्म और विभिन्न दर्शन यहाँ खड़े हुए हैं। यहाँ लोगों की धर्म व दर्शन में आस्था है। राष्ट्रीय एकता का गुर पाने के लिए भारतवासियों को समुद्रों पार जाने की आवश्यकता नहीं है। अपनी आध्यात्मिक आस्थाओं से एक सर्वमान्य आस्था को राष्ट्रीय जीवन में चरितार्थ कर लिया जाए, तो राष्ट्रीय एकता तो सध ही जाएगी, प्रत्युत विश्व-एकता में भी वे अपना महत्वपूर्ण योग कर सकेंगे। वह है, अभेद वुद्धि और आत्मौपम्य-वुद्धि। भारतीय दर्शन के ये दो शब्द वीज-मंत्र कहे जा सकते हैं। अभेद वुद्धि का तात्पर्य है, जो मैं हूँ, वही वह है। आत्मौपम्य-वुद्धि का तात्पर्य है, जैसा मैं हूँ, वैसा ही वह है। उक्त दोनों आस्थाओं से अपने-अपने विश्वास के अनुसार किसी एक को भी जीवन-व्यवहार में चरितार्थ कर लिया जाये, तो राष्ट्रीय एकता को भंग करने वाले 'अपने और पराये' के भेद-भाव समूल

नष्ट हो जाएँगे। फिर राष्ट्रीय एकता दिवस मनाने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

विकट घड़ियों में

सामान्य स्थिति में जो वोध मनुष्य ग्रहण नहीं करता, वह विकट घड़ियों में कर लिया करता है। वर्तमान समय भारतवर्ष के लिए सचमुच ही विकट घड़ियों का है। गरीवी है, दुर्भिक्ष है, परावलंविता है। इन सवके साथ पड़ौसी राष्ट्र युद्ध के लिए ताक लगाये वैठे हैं। ऐसी परिस्थिति में मनुष्यों में तो क्या पशुओं में भी भावनात्मक एकता आ जाती है। अभी का उदाहरण है। राजस्थान के एक हिस्से में वाढ़ आई। पानी के भय से एक कुत्ता और एक विल्ली संयोग से एक झोंपड़े पर चढ़ गये। दोनों एक दूसरे के आमने-सामने तीन दिनों तक वैठे रहे। तीन दिनों के पश्चात् पानी हट गया, तो दोनों भूमि पर आ गये। कुत्ता और विल्ली अत्यन्त विरोधी स्वभाव के पशु हैं, पर, आपत्ति-काल में उनमें भी भावनात्मक एकता हो गई। गुजरात में भी ऐसा घटित हुआ। सूरत जिले में वाढ़ आई। एक छोटे से टीले पर एक मनुष्य और सात सर्प कई दिनों तक साथ-साथ रहे। अस्तु, आज देश जव विकट परिस्थितियों से गुजर रहा है। वड़ी-वड़ी समस्याएं उसके सामने हैं, तव भारतीय नागरिक भाषा के लिए, जाति के लिए व अन्य ऐसे छोटे निमित्तों से लड़ते-झगड़ते रहें, तो क्या उनसे पशु भी अधिक विवेकशील नहीं हैं?

इतिहास वताता है, भारतवर्ष में जव-जव भी विदेशी सल्तनत आई है, देश की अन्तरंग फूट भी उसका कारण वनी है। घर में फूट हो तो दुश्मन के घर गुलाल वरसता है। घर में फूट न हो तो दुश्मन कितना ही सशक्त हो, मुंह की खाता है। एक वार मगध नरेश अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार ने वुद्ध से कहा—हमारा राजा वज्जियों का नाश करना चाहता है, वह वज्जी गणतंत्र को छिन्न-भिन्न करना चाहता है। वुद्ध ने कहा—जव तक वज्जी लोग अपने संस्थागार में एकमत से एकत्रित होते हैं, एकमत से उठते हैं, तव तक वज्जी अजेय हैं। अस्तु, भारतवर्ष को भी अजेय रहना है, तो राष्ट्रीय हितों में एकमत रहना होगा।

एक राष्ट्र, एक शरीर

यूनान के विख्यात विचारक प्लेटो ने राष्ट्रीय जीवन को शरीर-संघटना के गुर पर खड़ा होना आवश्यक माना है। एक शरीर में हाथ, पैर, आंख, कान आदि नाना अवयव है। उनकी अपनी-अपनी निरपेक्ष स्थिति है, पर, उनकी शारीरिक अनुभूति एक है। पैर के कांटा लगते ही हाथ आगे बढ़ते हैं और उसे निकालते हैं। इसी प्रकार सभी अवयव आवश्यकतानुसार एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। परस्पर निरपेक्ष होते हुए भी शरीर के हित में सब एक हैं। एक देश में अनेक प्रान्त, अनेक धर्म, अनेक जातियां होती हैं। परस्पर वे निरपेक्ष हैं, पर, राष्ट्र-हित के प्रश्न पर उन्हें एक रहना चाहिए और आवश्यकतानुसार एक दूसरे का सहयोगी रहना चाहिए, तभी एक राष्ट्र जिसे हम कहते हैं, उसका अर्थ चरितार्थ होता है। शरीर के अवयव कभी लड़ते-झगड़ते नहीं देखे जाने चाहिएं।

अणुव्रत आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन राष्ट्रीय चरित्र के उन्नयन का आन्दोलन है। इसके पीछे ६५० मेधाशील और तपस्वी साधुओं का संगठन है। सहस्रों कार्यकर्ता इसके साथ संलग्न हैं। विश्व-एकता के सन्दर्भ में अणुव्रत-आन्दोलन राष्ट्रीय एकता को भी महत्व देता है। पद-यात्री साधु और साध्वियां नैतिक उत्थान व भावनात्मक एकता का संदेश लेकर देश के सुदूर भागों में परिभ्रमण कर रहे हैं। देश की चारों दिशाओं के छोर तक तो वे पहुंचे ही हैं, साथ-साथ नेपाल, भूटान, सिक्कम आदि संलग्न विदेशों में भी वे नैतिकता और एकता की मशाल लिए घूम रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी ने नैतिक मूल्य एवं राष्ट्रीय सद्भाव को लक्ष्य में रखकर समग्र भारत की पद-यात्रा की है एवं देश में एक सजग वातावरण बनाया है। हाल ही में उन्होंने कन्याकुमारी व केरल की पद-यात्रा कर अपनी चतुर्दिग् यात्रा सम्पन्न की है। इस यात्रा से उत्तर व दक्षिण की सांस्कृतिक एकता सुदृढ़ हुई है।

□ □

: १५ :

भारतीय विद्याएं और विज्ञान

एक प्रयोग : एक दिशा

सन् ६९, जून को गुजरात में एक रस-वैद्य सम्मेलन में रासायनिक विधि से स्वर्ण-निर्माण की चर्चा उठी। एक प्रयोग प्रारम्भ हुआ। वैज्ञानिकों ने घोषणा की—यह प्रयोग सफल नहीं होगा। स्वर्ण, रजत, ताम्र, पारद; किसी भी रासायनिक विधि से एक दूसरे में परिणत नहीं हो सकते। तीसरे ही दिन वह प्रयोग सफल हुआ और पारद स्वर्ण के रूप में सामने आया। स्वर्ण-निर्णायक समिति ने परीक्षण के पश्चात् प्रयोग को सफल घोषित किया।

वैज्ञानिकों के लिए इस प्रयोग ने अनुसन्धान की एक नई दिशा खोल दी। उन्हें यह ध्यान देना होगा कि क्या सचमुच ही प्रयोग सफल हुआ है या ऐसा हो सकता है? यदि ऐसा हुआ है और हो सकता है, तो उन्हें मानना होगा कि परमाणु-विभाजन की कोई सुगम प्रक्रिया भी भारतवर्ष में पहले से प्रचलित है। इस दिशा में पहले भी ऐसे अनेक पहलू सामने आये हैं, जो प्राचीन मान्यताओं में थे, पर, विज्ञान बहुत आगे चलकर उनसे सहमत हुआ।

प्रारम्भ में विज्ञान की यह सुदृढ़ धारणा थी—हाईड्रोजन, आक्सीजन से यूरेनियम तक के ९२ मौलिक तत्त्व रासायनिक या भौतिक किसी भी विधि से एक दूसरे में परिवर्तित नहीं हो सकते। बहुत पहले से भारत में व अन्य देशों में जो स्वर्ण-निर्माण की बातें प्रचलित हैं, वे किंवदन्ती मात्र

हैं। भारतीय दार्शनिक एवं रसायनविद् वहुत पहले से मानते आ रहे थे—"पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है।" परमाणु उसका मौलिक आधार है। प्रत्येक परमाणु के किसी भी पदार्थ-जाति में परिवर्तित हो जाने की शक्यता है। वह स्वयं अपने स्वभाव से परिवर्तित होता रहता है या संयोग-विशेष से वह परिवर्तित किया जा सकता है। परमाणुत्व मौलिक है। वह प्रत्येक स्थिति में वर्तमान रहता है। विज्ञान द्वारा प्रतिपादित मौलिक तत्त्व अन्तिम और अपरिवर्तनीय नहीं है।

वैज्ञानिक मान्यता

विज्ञान के क्षेत्र में जव परमाणु-विभाजन की सम्भवता हुई, तव विज्ञान की अनेक वद्धमूल धारणाएं एक साथ वदलीं। विज्ञान ने स्वीकार किया, जो परमाणु (सवसे छोटा) माना गया था, वास्तव में वह परमाणु ही नहीं है, उसके अन्तर्जगत् में तो धनाणु (Proton) और ऋणाणु (Electron) अपना सौर जगत् वनाये वैठे हैं। धनाणुओं और ऋणाणुओं का संख्यामान ही प्रत्येक पदार्थ का मौलिक स्वरूप है। प्रथम मौलिक तत्त्व हाईड्रोजन में एक धनाणु नाभि-केन्द्र है तथा एक ऋणाणु उसकी परिक्रमा कर रहा है। यूरेनियम तक के ९२ तत्त्वों में क्रमश: एक-एक करके वढ़ते हुए धनाणु एवं ऋणाणु कण हैं। धनाणु कण एकीभूत होकर नाभि-क्रेन्द्र वन जाते हैं तथा ऋणाणु विभिन्न कक्षाएं वनाकर परिक्रमा करते हैं। परमाणु-विभाजन का तात्पर्य परमाणु की मूलभूत संघटना से धनाणुओं एवं ऋणाणुओं का विभाजन है। इस विभाजन से धनाणु और ऋणाणु जिस संख्या-क्रम पर आते हैं; वह मौलिक तत्त्व उस संख्या-क्रम वाले मौलिक तत्त्व में वदल जाता है। उदाहरणार्थ—मौलिक तत्त्वों में सोने का स्थान ७९ वां है। पारे का स्थान ८०वां है। तात्पर्य, सोने की अपेक्षा एक धनाणु पारे में अधिक है। विभाजन-क्रिया से इस अधिक संख्या को घटा दिया जाये तो पारद स्वर्ण में परिणत हो जायेगा। वैज्ञानिकों ने वहुत पहले जो इस परिवर्त्तन की असंभवता मानी थी, वह मिट गई तथा उन्हें स्वीकार करना पड़ा, मौलिक तत्त्वों के परिवर्तन की शक्यता तो है। अव उनका कहना है, यह परिवर्तन रासायनिक क्रिया से संभव नहीं हो

सकता। अभी-अभी एक भारतीय वैद्य ने वह भी कर बताया है। इस नये तथ्य का हार्द पाना वैज्ञानिकों का कर्तव्य हो गया है। उन्हें वैज्ञानिक गति-विधि से इस प्रयोग को परखना एवं तदनुरूप अपना मत निश्चित करना होगा।

अनुसन्धान की अपेक्षा

अनेकानेक भारतीय विद्याएं निराधार व अवैज्ञानिक मानकर उपेक्षित कर दी गई हैं। अपेक्षा है, नये सिरे से उन पर अनुसन्धान होता रहे। हो सकता है, सब नहीं तो अनेक विद्याएं उनमें से यथार्थ व उपयोगी सिद्ध हो जाएं। विज्ञान के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की बहुलता है कि अनेक प्राचीन मान्यताओं के विषय में विज्ञान ने असंभवता व्यक्त की। आगे चल-कर उन्हें मान्यता दी। भारतीयों का यह मानना भी यथार्थ नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने जो जाना, जो कहा, वह सब सही है। अपेक्षा है, यह विषय आग्रह या उपेक्षा का न होकर तटस्थ अन्वेषण का हो।

नवीन विज्ञान ने पदार्थ और शक्ति को भिन्न अस्तित्व के रूप में मान लिया है। यह भी माना गया है, वे एक दूसरे में परिणत हो सकते हैं। विज्ञान की परिभाषा में विद्युत्, प्रकाश, उष्णता, चुम्बक आदि शक्ति के स्थूल रूप हैं। भारतीय दार्शनिकों की मान्यता है, गुण पदार्थ से कभी पृथक् नहीं होता। शक्ति भी पदार्थ का ही एक गुण है। जिन्हें शक्ति कहा गया है, वे वस्तुतः पदार्थ की ही पर्याय विशेष हैं और वे पारमाण-विक ही हैं। परमाणु की वास्तविक संज्ञा वैज्ञानिक अब ऋणाणु को देने की सोचते हैं; क्योंकि अब वही सबसे छोटा कण उनके सामने है। भारतीय दर्शन की परिभाषा से ऋणाणु भी कभी अणु ही सिद्ध होगा, पर-माणु नहीं। परमाणु के विषय में दार्शनिकों ने माना है—"परमाणु अवि-भाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य व अग्राह्य है। किसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका भाग नहीं हो सकता। वज्रपटल से भी उसका भाग या विभाग नहीं हो सकता। किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से उसका क्रमण या भाग नहीं हो सकता। वह अग्नि-प्रवेश कर जलता नहीं, पुष्कर संवर्त महा-मेघ में प्रवेश कर आर्द्र नहीं होता, गंगा महानदी के प्रतिस्रोत में शीघ्रता

से प्रवेश कर नष्ट नहीं होता। उदकावर्त या उदकविन्दु में आश्रय लेकर विलुप्त नहीं होता। परमाणु अनर्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्ध नहीं है, समध्य नहीं है, सप्रदेशी नहीं है। परमाणु के न लम्वाई है, न चौड़ाई है, न गहराई है। यदि वह है तो इकाई रूप है।"

भारतीय अणु-विद्या एक ऐसा पहलू है, जिसमें वहुत कुछ वैज्ञानिकता प्रतीत होती है। अपेक्षा प्रयोग व अनुसन्धान की है।

अतीन्द्रिय ज्ञान

पाश्चात्य जगत् जिस प्रकार आज अणु-शक्ति के अन्वेषण में लग रहा है, भारतीय मनीषी सदा से आत्म-शक्ति के अन्वेषण में लगे रहे हैं। जड़-जगत् का अन्वेषण तो उनका प्रासंगिक विषय रहा है। आत्म-शक्ति के विकास की नाना धाराओं में एक अतीन्द्रिय ज्ञान की धारा थी। इन्द्रियों और मन से परे का ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान कहलाता है। वह आत्म-सापेक्ष होता है। उसकी मुख्य दो कोटियां होती हैं—सावधिक और निरवधिक। प्रथम सीमित देश, काल व पदार्थ को देखता है, द्वितीय निस्सीम को। शास्त्र-ग्रन्थों में, कथा-ग्रन्थों में दोनों के ही सम्बन्ध से अगणित घटना-प्रसंग मिलते हैं। अनुत्तर अतीन्द्रिय ज्ञान को वैदिक परम्परा ने ब्रह्मज्ञान कहा, जैन परम्परा ने कैवल्य कहा और बौद्ध परम्परा ने सम्वोधि कहा।

वर्तमान युग में अतीन्द्रिय ज्ञान अप्सराओं और परियों की कहानी जैसा बन गया है। बुद्धिवाद और विज्ञान; दोनों ने ही इसे संभवता से परे की बात माना है। अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, यह बात सहस्रों वर्षों से पुष्ट होती आ रही है। अतीन्द्रिय ज्ञान का पात्र स्वयं मनुष्य है। वह कोई लोकोत्तर प्राणियों का ही विषय नहीं है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यह संभव नहीं कि इतनी बड़ी अवास्तविकता समाज की सब दिशाओं से सहस्राब्दियों तक पुष्ट होती जाये। हो सकता है, अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसमें कुछ-कुछ अतिरंजन हो, कुछ-कुछ मतभेद हो, पर, वह नितान्त कल्पना मात्र ही हो, यह बुद्धिगम्य नहीं। भूत और भविष्य के ज्ञान की साधारण घटनाएं समाज के सामने पहले भी आती रही हैं, अब भी आ रही हैं। विज्ञान ने उन्हें माना नहीं, इसलिए वे बन्द नहीं हो गईं। अब

विज्ञान को ही इस ओर मुड़ना पड़ रहा है। मनोविज्ञान इस दिशा में काफी आगे बढ़ा है। अतीन्द्रिय ज्ञान की अनेक घटनाओं पर वैज्ञानिक गतिविधि से अनुसन्धान हुआ तथा हो रहा है। परामनोविज्ञान (Parapsychology) विज्ञान का ही एक प्रभावशाली अंग बनता जा रहा है। पूर्व जन्म-विषयक ज्ञान हो जाने की घटनाएँ अविरल रूप से सामने आ रही हैं। बुद्धि-प्रधान अनुसन्धानों पर वे खरी भी उतर रही हैं। अस्तु, अतीन्द्रिय ज्ञान के सहज उदाहरण जब सर्वसाधारण में भी पा जाते हैं तो योगियों, तपस्वियों तथा साधकों में विशिष्टतम रूप से नहीं होते होंगे, यह कैसे सोचा जा सकता है ?

पुनर्जन्म विद्या

पुनर्जन्म विद्या समग्र अध्यात्म की पृष्ठभूमि व समग्र दर्शन की रीढ़ रही है। परामनोविज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान के साथ-साथ पुनर्जन्म की वास्तविकता को भी पुष्ट कर रहा है। विज्ञान जिस दिन पुनर्जन्म की पुष्टि कर देगा, उस दिन धर्म और विज्ञान का अन्तर मिट जायेगा। विज्ञान का अभियान तब अणु-शक्ति के अन्वेषण की तरह आत्म-शक्ति के अन्वेषण में भी चल पड़ेगा। अब तक विज्ञान ने आत्मा को अणु की तरह स्वतंत्र अस्तित्वशील और अविनाशी तत्त्व माना नहीं है। आशा है, किसी दिन भारत का व विश्व का वह पुराना विश्वास भी विज्ञान के क्षेत्र का नया अध्याय बन जायेगा।

योग व यौगिक उपलब्धियां

भारतीय विद्याओं में योग का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक प्रकार से तो समग्र अध्यात्म ही योग है, पर, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि को ही मुख्य रूप से योग कहा जाने लगा है। यह यथार्थ भी है; क्योंकि उसका अपना इतना भाग विशेष है। यौगिक एवं तपोजन्य सिद्धियों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में बहुलता से मिलता है। माना गया है, योगी और तपस्वी अंतरिक्ष-गमन कर सकते हैं, रूप-परिवर्तन कर सकते हैं, अपने ही जैसे अगणित रूप खड़े कर सकते हैं। वे किसी को वरदान दे सकते हैं, अभिशाप दे सकते हैं। वे

मानसिक संकल्प मात्र से भी किसी को अनुगृहीत कर सकते हैं। उनके देह-मल भी दूसरों के लिए औषधि-रूप हो जाते हैं। उनके शरीर का स्पर्श पा कर बहने वाला पवन भी संक्रामक रोगोंका निवारक बन जाता है, आदि।

साधना के क्षेत्र में इन सिद्धियों को ऊंचा महत्त्व नहीं दिया गया। साधकों को कहा गया—तपोबल से, योगबल से तुम्हें सिद्धियां मिली हैं, पर, भौतिक उद्देश्य से इनका उपयोग करना आराधकता नहीं, विराधकता है। यहां प्रश्न केवल उनकी शक्यता का है। यदि सब शक्य हो, तो मानना पड़ता है, आत्म-शक्ति के विकास का प्रश्न अणु-शक्ति के विकास से भी महत्त्व का है और किसी भी स्थिति में वह उपेक्षणीय नहीं है। आत्मिक शक्ति का सृजनात्मक उपयोग मनुष्य को बहुत दिव्य बना सकता है।

प्रयोग एवं परीक्षण

विज्ञान के क्षेत्र में ये विषय भले ही अभी न पहुंचे हों, पर, पाश्चात्य लोगों की रुचि व गवेषणा के विषय ये अवश्य बन गये हैं। योग, ध्यान आदि विषयों पर व्यवस्थित प्रयोग, परीक्षण एवं लेखन चल पड़ा है। सन्तोष की बात यह है कि इसमें सत्य का विकास ही दीख पड़ता है। भारतीय वैज्ञानिकों का ध्यान भी प्राचीन भारतीय विद्याओं की ओर लगे, प्रशासन भी इस दिशा में सचेष्ट हो, राष्ट्रीय अनुसन्धान-शालाओं में स्वतन्त्र विभाग प्राचीन भारतीय विद्याओं के अन्वेषण के लिए खुलें; यह सब हुआ और तरुण भारतीय वैज्ञानिकों ने इनमें रस लिया, तो वे बहुत शीघ्र ही मानव-हित के अनेक नूतन आविष्कार विश्व को दे सकेंगे, ऐसी आशा है।

आयुर्वेद विद्या

आयुर्वेद भी भारत की अपनी मौलिक विद्या है। प्राचीन काल में भी वह बहुत विकसित रहा है। विकास का वह क्रम चालू रहता, तो भारत की विश्व को वह अनुपम व अद्वितीय देन होती। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भी भारत में कैसे अद्भुत इलाज होते थे, इसका परिचय जीवक कौमार-भृत्य के जीवन-परिचय एवं जीवन-संस्मरणों से मिलता है। जीवक कौमार-भृत्य मगध-नरेश बिम्बिसार व अजातशत्रु का राजवैद्य था। महावीर और

बुद्ध के युग का यह एक ऐतिहासिक पात्र रहा है। राजसभा में राजमंत्री की तरह इसका सम्मान था। यह राजगृह में रहता था, पर, मगध से बाहर अनेक राजा व धनिक उपचार-हेतु इसे बुलाया करते थे। बौद्ध साहित्य में इसके आश्चर्यजनक उपचारों का व्यौरा मिलता है।

जीवक ने पहला उपचार एक श्रेष्ठी की पत्नी का किया था। वह शिरोवेदना से पीड़ित थी। अनेक उपचार हुए, पर, सब व्यर्थ। जीवक ने औषधि-मिश्रित घृत नाक से पिलवा कर तथा मुंह से निकलवा कर एक बार में उसकी शिरोवेदना का अन्त कर दिया। परिवार धनी था। श्रेष्ठी ने, उसकी पत्नी ने, पुत्र ने व पुत्र-वधू ने पृथक्-पृथक् उपहार जीवक को दिये। कुल १६००० कार्षापण (उस युग का सिक्का), एक दास, एक दासी, एक रथ उसे उपहार रूप में मिले।

बिम्बिसार राजा का भगन्दर एक लेप में उसने मिटाया। बिम्बिसार की रानियों ने अपने-अपने आभूषण उसे उपहार में दिए।

राजगृह के एक श्रेष्ठी का उपचार उसने उसके मस्तक की चीर-फाड़ करके किया। अन्य वैद्य उसे असाध्य कहकर छोड़ चुके थे। सेठ की बांई कनपटी से उसने एक जन्तु निकाला व दाहिनी कनपटी से भी एक जन्तु निकाला। लोगों को बताया—यह एक जन्तु एक मास में खोपड़ी को चट कर देता है और व्यक्ति मर जाता है। दूसरा जन्तु सात दिन में ही ऐसा कर देता है। चीर-फाड़ के बाद औषधि-विलेपन कर पट्टी बांधी। सात ही दिनों में सेठ पूर्ण स्वस्थ हो गया।

वाराणसी के एक श्रेष्ठि-पुत्र की आंतें उलझ गई थीं। वह मरणासन्न स्थिति में था। जीवक ने पेट चीर कर आंतें बाहर निकालीं। श्रेष्ठि-पुत्र की पत्नी को दिखाते हुए उसने आंतों को पुन: पेट में व्यवस्थित क्रम से बिठाया। विलेपन के साथ पाटा बांधा। कुछ ही दिनों में श्रेष्ठि-पुत्र पूर्ण स्वस्थ हो गया। यहां से भी उसे १६ हजार कार्षापण मिले।

उज्जयिनी के राजा चण्ड प्रद्योत का उपचार उसने औषधि-मिश्रित घृत पिलाकर किया। राजा को घृत से चिढ़ थी। उसने कह दिया था, मुझे घृत पिला दिया तो प्राण-दण्ड मिलेगा। घृत के बिना उसके रोग का कोई उपचार ही नहीं था। जीवक ने अपने अनोखे ढंग से राजा को औषधि-

मिश्रित घृत भी पिला दिया और उसके प्रचंड कोप से अपने आप को बचा भी लिया।

आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भारत में ऐसे औपधोपचार व ऐसी शल्य-चिकित्साएं होती थीं, जब कि आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान एवं शल्य-प्रक्रिया का जन्म भी नहीं हुआ था। भारत अपनी विद्या को आगे नहीं बढ़ा सका, प्रत्युत उसे विस्मृति के गर्त में डालता गया। आधुनिक चिकित्सा अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर विकास के कितने शिखर पर पहुंच गई है, यह हम सब जानते हैं। आज के उपचार व आज की शल्य-चिकित्सा के सामने जीवक के विलक्षण प्रयोग भी सामान्य हो गये हैं। अब भी आयुर्वेद को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आगे बढ़ाया जाये, तो उसमें आगे बढ़ने की प्रचुर क्षमता है। पर, उन संस्कारों से आयुर्वेद आगे नहीं बढ़ सकता, जिनके आधार पर कहा जाता है—आयुर्वेद के सामने ऐलोपेथी है ही क्या ? उसमें यह दोष है, उसमें वह दोप है। हम कितने ही दोप गिनायें, आधुनिक चिकित्सा-ज्ञान ने असाध्य को साध्य बना दिया है। सारे संसार की औसतन आयु बढ़ा दी है। प्रतिदिन उसके विलक्षण आविष्कार सामने आ रहे हैं। रोग और उपचार को पकड़ने का उसका अपना वैज्ञानिक ढंग है। अनुमान हुआ कि तमाखू पीने वाले कैंसर रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। आंकड़े लिए गये। अनुमान की पुष्टि हुई। तमाखू का इन्जेक्शन लगाकर देखा गया। कैंसर हो गया। तब एक मान्यता निश्चित हुई, तमाखू भी कैंसर का एक कारण है।

आयुर्वेद-विद्या को भी विकास की दृष्टि मिले, विज्ञान का आधार मिले, प्रयोग व अनुसन्धान का अवसर मिले, तो निस्सन्देह वह आज जहां है, उससे बहुत आगे बढ़ सकता है।

□ □

: १६ :

कार्यकर्ता और समाज

निराशा के कुहासे में

मृत्यु के दो ही दिन पूर्व महात्मा गांधी अपने एक मित्र को लिखते हैं —"जो नेता मुझे बहुमान देकर चलते थे, सत्ता के सिंहासन पर बैठ जाने के पश्चात् वे ही मेरी अवगणना करने लगे हैं। मैं कुछ भी कहता हूं या परामर्श देता हूँ, बूढ़े की बड़बड़ाहट में खप जाता है। मैं जो कहता हूँ, वह हंसी में गुजार दिया जाता है। इस सबसे मुझे लगता है, इस देश में अब अधिक लम्बा जीने का कोई अर्थ नहीं है।"

"मैंने उनका साथ छोड़ दिया है और अकेला ही निकल पड़ा हूं। इस देश का क्या होना है, यह सब मैं देख सकता हूँ। पर, काल समय-समय का काम करता है। मुझे अब कुछ भी नहीं करना है। तुम धीरज रखो, विधाता जब काम करने को उद्यत होता है, तब एक दिन में ही सब कुछ कर डालता है। तब ये नेता मुंह बाए देखते ही रह जायेंगे। इन नेताओं को समझ नहीं पड़ रही है कि हो क्या रहा है।"

महात्मा गांधी जैसे युगपुरुष के मन में भी निराशा का इतना भाव उभर सकता है, तो सामान्य कार्यकर्ता उससे कैसे लोहा लेता रहे व कैसे अपने पथ पर बढ़ता रहे, यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। गांधीजी की बात मानो कुदरत ने सुन ली और दो दिन बाद ही उन्हें इस जगत से उठा लिया, पर, सबके साथ तो यह नहीं होता। उन्हें तो यहीं निराशा के निविड़ कुहासे में घुल-घुलकर जीना ही पड़ता है।

निराशा फलासक्ति से होती है। कार्यकर्ता स्वयं को उससे जितना ऊपर उठा सकेगा, उतना ही वह भार-मुक्त रहेगा। कार्यकर्ता का ध्येय, करते रहना है। साध्य शुद्ध हो, साधन शुद्ध हो, कार्य के प्रति दत्त-चित्तता हो, फिर भी परिणाम अनुकूल न आये, तो कार्यकर्ता को इतने में ही कृत-कृत्य होना चाहिए कि मेरे समय का, मेरी शक्ति का सदुपयोग हुआ है, परिणाम की चिन्ता मैं क्यों करूँ? फलाकांक्षा से रहित सत्-कर्म में लगे रहना जीवन की साधना है और यही वास्तव में कर्मयोग है।

अपूर्णता

प्रश्न होता है, महात्मा गांधी जैसे असामान्य लोग निराशा के वातावरण में डगमगा जाते हैं, तो सामान्य कार्यकर्ता से क्या आशा की जा सकती है कि वह निष्कामता के आदर्श को जीवन में चरितार्थ कर सकेगा। प्रश्न वास्तविक है। मनुष्य अपूर्णताओं को लिए ही समाज में जीता है। अपूर्णता में हम परिपूर्ण आदर्श की क्रियान्विति चाह कर चलें, यह यथार्थ नहीं होगा। कार्यकर्ता समाज के लिए है तथा समाज कार्यकर्ता के लिए। दोनों की एक व्यवस्थित मान्यता व आचार-शृंखला होनी चाहिए। अब तक ऐसा नहीं हो पाया है। अब तक लोग यही मान कर चलते हैं, कार्यकर्ताओं का वर्ग प्राचीन काल के पण्डितों व पुरोहितों जैसा वर्ग है, जो समाज-सेवा करके अपनी आजीविका चलाता है। इस भ्रान्त धारणा का उन्मूलन करना होगा। कार्यकर्ता आजीविका के लिए समाज-सेवा नहीं करता, पर, वह सामाजिक कल्याण के लिए स्वयं को अर्पित करता है। भारत में कार्यकर्ताओं के प्रति अभी समुचित धारणा नहीं बनी है; अतः उनके बलिदान का यथार्थ अंकन नहीं होता।

सामाजिक विकास का दायित्व

वस्तुस्थिति यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में समाज के विकास और ह्रास का प्रश्न कार्यकर्ताओं से जुड़ गया है। भारतवर्ष जैसे बड़े देश में अनेक समाजों का होना स्वाभाविक है। सरकार देश के शैक्षणिक, आर्थिक व स्वास्थ्यपरक पहलुओं पर स्थूल ध्यान ही दे सकती है। छोटे-बड़े अनगिन

पहल रह जाते हैं, जिनका दायित्व पृथक्-पृथक् समाजों पर ही होता है। प्राचीन काल में पंच लोग सामाजिक चिन्ताएं अपने ऊपर लेते थे और समाज पर अपना नियंत्रण रखते थे। अब स्थिति बदल गई। न पंच रहे हैं, न उनकी आवश्यकता ही रह गई है। अब समाज के विकास का दायित्व सामाजिक कार्यकर्ताओं पर आ गया है। जो समाज जितने वर्चस्वी कार्यकर्ता पैदा करेगा, उतना ही वह आगे बढ़ेगा। कार्यकर्ता जन्म से नहीं होते, वे समाज के वातावरण से बनते हैं। जिस समाज में कार्यकर्ता के प्रति सम्मान की दृष्टि होगी, उसके कार्यों का अंकन होगा, उसके प्रति सहयोग की भावना होगी, उसी समाज में वर्चस्वी कार्यकर्ता पैदा होंगे तथा वही समाज आगे बढ़ेगा। अपने-अपने परिवार की चिन्ता सब करते हैं, पर, कार्यकर्ता समाज की चिन्ता करता है और उसके लिए कार्य करता है। उसके कार्य का लाभ सब लोग उठाते हैं। कार्यकर्ताओं ने विद्यालय स्थापित किया, पुस्तकालय या औषधालय बनाया; उससे पूरा समाज या गांव लाभान्वित होता है, तो पूरे समाज या गांव का क्या कर्तव्य नहीं हो जाता है कि वह कार्यकर्ताओं के योग-क्षेम की चिन्ता या व्यवस्था करे? उन्हें समाज या गांव में सम्मानित स्थान दे? ऐसा नहीं होगा, तो भविष्य में वे समाज का कार्य कैसे कर पाएंगे तथा नये कार्यकर्ता भी कैसे पैदा होंगे?

स्वाधीनता किसके बल पर ?

गांव के व देश के सामुदायिक विकास कार्यकर्ताओं पर ही निर्भर रहते हैं। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ; किस के बल पर? कार्यकर्ताओं के बल पर। बहुत सारे लोग घर की चिन्ता छोड़कर देश की चिन्ता में निकल पड़े, तभी यह हुआ न? फिर कार्यकर्ता का स्थान समाज में छोटा क्यों? महात्मा गांधी कार्यकर्ता थे। विनोबा कार्यकर्ता हैं। देश व समाज के लिए उनकी कितनी उपयोगिता प्रमाणित हुई व हो रही है। तब हम कैसे सोच सकते हैं कि कार्यकर्ताओं का समाज पुरोहितों व पंडितों की बिरादरी है?

कार्यकर्ता आत्म-स्थित हो

यह सच है, कार्यकर्ता के लिए समाज को बदलना होगा, पर, यह भी

उतना ही सच है कि कार्यकर्ता को भी स्वयं के गुणों में स्थित होकर चलना होगा। वह यदि आत्म-गुणों से सम्पन्न नहीं रहा तो समाज से कुछ भी अपेक्षा उसके अधिकार की बात नहीं होगी। कार्यकर्ता वचन से, कर्म से प्रामाणिक हो। उसके जीवन-व्यवहार से उत्सर्ग का आदर्श टपके। स्वार्थ उसको छूने तक न पाये। वह सहिष्णु, क्षमाशील व धैर्यशील हो। सबको साथ लेकर चल सकने वाला हो। दूसरों का अनादर व अवगणना करने वाला न हो।

सबसे बड़ी दुर्बलता

कार्यकर्ताओं की सबसे बड़ी दुर्बलता होती है, एक दूसरे को न सह पाना। एक कार्यकर्ता अपनी योग्यता से, विलक्षण कार्य-क्षमता से आगे आता है। समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। दूसरी ओर उसके दायें-बायें से ही उसका विरोध शुरू हो जाता है। उसके मार्ग में रुकावटें डाली जाने लगती हैं। असत्य आरोप भी उस पर गढ़े जाने लगते हैं। उसके गुणों को अवगुण करके बताया जाने लगता है। कार्यकर्ता-समाज जब तक इस दुर्बलता से ऊपर नहीं उठ जाता, तब तक समाज में स्वयं को वर्चस्वी प्रमाणित नहीं कर सकता। लोग देखते हैं, समाज-सेवा कहां? यह तो प्रतिष्ठा और पदों का द्वन्द्व चल रहा है।

समाज में बड़े कार्य तभी हो सकते हैं, जब किसी भी कार्यकर्ता की सफलता पर उसका अभिवादन हो। अन्य सभी कार्यकर्ता उसे अपना बल प्रदान करें। वे एक दूसरे की सफलता पर परस्पर पुलकित हों। कार्यकर्ता ही कार्यकर्ता को काटता रहा, तो समाज में बड़े कार्य होने का तो प्रश्न ही क्या, कार्यकर्ता वर्ग ही समाज की नजरों में गिरता जायेगा और स्वयं ही मिटता जायेगा। अस्तु, कार्यकर्ता समाज का आदर्श बने तथा समाज उनका यथार्थ अंकन करता रहे, इसी में समाज व कार्यकर्ता दोनों का हित व क्षेम है।

पश्चिम ने कार्य का अंकन करना सीखा है। किसी भी अपूर्व प्रयोग पर, अपूर्व सफलता पर, पश्चिमी जगत् व्यक्ति को एकाएक कितना ऊंचा उठा लेता है; इसके उदाहरण आये दिन हमारे सामने आते हैं। यहां ईर्ष्या

है, वहां प्रतिस्पर्धा है। ईर्ष्या किसी की सफलता को ढाँकने का प्रयत्न करती है। प्रतिस्पर्धा किसी की सफलता से प्रगति की प्रेरणा लेती है। इसी मूलभूत अन्तर से पश्चिम एक के वाद एक सफलताएं अर्जित करता जा रहा है। एक देश की अन्तरिक्ष-यात्राएं दूसरे देश के लिए प्रेरक वन रही हैं। भारतीय जनता व भारतीय कार्यकर्ता भी यथार्थ प्रवृत्ति और यथार्थ अंकन के वल पर ही मंजिल की ओर वढ़ सकते हैं।



लेखक की अन्य कृतियां

१. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
२. अहिंसा विवेक
३. नैतिक विज्ञान
४. अहिंसा पर्यवेक्षण
५. अणुव्रत जीवन दर्शन
६. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
७. अहिंसा के अंचल में
८. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
९. अणु से पूर्ण की ओर
१०. अणुव्रत विचार
११. नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया
१२. आचार्य श्री तुलसी : एक अध्ययन
१३. प्रेरणा दीप
१४. सर्वधर्म सद्भाव
१५. तेरापन्थ दिग्दर्शन
१६. अणुव्रत दिग्दर्शन
१७. अणुव्रत-क्रान्ति के बढ़ते चरण
१८. अणुव्रत-आन्दोलन और विद्यार्थी वर्ग
१९. अणुव्रत आन्दोलन
२०. अणुव्रत दृष्टि
२१. युग प्रवर्तक भगवान् महावीर
२२. युग धर्म तेरापन्थ

२३. बाल-दीक्षा : एक विवेचन
२४. मर्यादा महोत्सव : इतिहास और परिचय
२५. महावीर और बुद्ध की समसामयिकता
२६. मंजिल की ओर
२७. तेरापन्थ शासन प्रणाली
२८. सत्य मंजिल : समीक्षा राह
२९. मन के द्वन्द्व : शब्दों की कारा
३०. यथार्थ के परिपार्श्व में

संस्कृत

३१. भिक्षु चरित्रम्
३२. माथेरान सुषमा
३३. भक्तेरुक्तय:
३४. आशुकाव्यानि
३५. नीति-नीलोत्पलानि
३६. ललितांग चरित्रम्

अंग्रेजी

1. The Anuvrat Ideology.
2. Light of Inspiration.
3. Jain Philosophy & Modern Science.
4. Strides of Anuvrat Movement.
5. Pity and Charity in tne New Pattern of Society.
6. A Pen-Sketch of Acharya Shri Tulsi.
7. Glimpses of Anuvrat.
8. Glimpses of Terapanth.
9. Contemporaniety and Chronology of Mahavira and Buddha.
10. Theory of Relativity and Syadvad.